कविता का पक्ष

रामस्वरूप चतुर्वेदी

कविता का पक्ष

कविता का पक्ष

रामस्वरूप चतुर्वेदी

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

सहयोगी प्रयास में सक्रिय
सहृदय बंधु

अशोक वाजपेयी
रमेशचंद्र शाह

तथा

सत्यप्रकाश मिश्र

के लिए।

आमुख

कविता क्या है? कविता का पक्ष क्या है? इन प्रश्नों पर हर युग के कवि और आलोचक ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है, बुनियादी तौर पर यह समझते हुए भी कि इन प्रश्नों का कोई अंतिम समाधान नहीं होता। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हर स्तर पर परिवर्तन की गति एकबारगी तीव्र हुई है, और समस्याओं का संदर्भ तेजी से बदला है। इन बदले संदर्भों में उपर्युक्त जिज्ञासाओं का विवेचन गुणात्मक रूप में फ़रक होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन इन संदर्भों को रेखांकित करता हुआ कवि, कविता तथा आलोचक का पक्ष एक साथ सामने लाने का यत्न करता है।

जैसे इन प्रश्नों पर विवेचन की एक लंबी विकासमान परंपरा रही है, वैसे ही आलोचक के अपने लेखन में इन बुनियादी रचना-समस्याओं से जूझने का एक लंबे समय से उपक्रम चलता रहा है। वैसी स्थिति में यहाँ पिछले लेखन की कुछ आवृत्तियाँ तथा कुछ उन के संशोधित रूप भी मिल सकते हैं। उस सामग्री का उपयोग करते हुए समूचे विवेचन को एक नये और व्यापक स्तर पर विकसित किया गया है। बसंत पंचमी/निराला जयंती के अवसर पर कुछ अंशों को निराला व्याख्यानमाला के अंतर्गत प्रस्तुत करने का सुयोग हुआ, जहाँ कई श्रोता-मित्रों की प्रतिक्रिया से लाभान्वित हो सका। यत्न बराबर यह रहा है कि पुराने प्रश्नों के नये संदर्भों में उत्तर खोजे जाएँ। तभी कविता का पक्ष ठीक-ठीक समझा-समझाया जा सकता है। पुराने प्रश्नों को नये संदर्भों से संपर्कित करने में जो आलोक उत्पन्न होगा वह रचना और आलोचना दोनों की साझी उपलब्धि होगी। शताब्दी के अवसान की गहराती छायाओं के बीच कविता का पक्ष इसी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इलाहाबाद
शिवरात्रि
१० मार्च १९९४

रामस्वरूप चतुर्वेदी

अनुक्रम

कविता का अर्थ

१
कविता का अर्थ

काव्य के संबंध में अज्ञेय ने लिखा है—'तू छलता है पर हर छल में/तू और विशद अभ्रांत/ अनूठा होता जाता है।' काव्य के इस छल को पकड़ने के लिए आलोचक को भी दाँव बदल-बदल कर, और परिष्कृत करके लगाना होता है। यों कविता समझने की पूरी प्रक्रिया ही विकसनशील है, और तब यह प्रबंध अपने विधान में यदि विकसनशील है तो ऐसा होना स्वाभाविक है।

पिछले दिनों दर्शन, साहित्य-चिंतन, विधिशास्त्र जैसे अनुशासनों में अर्थ-मीमांसा विवेचन के केन्द्र में एक साथ आ गई है। कविता का अर्थ तो आरंभ से ही साहित्य-विवेचन का प्रिय विषय रहा है। प्राचीनों के ध्वनि-सिद्धांत से लेकर आधुनिक कवि टी०एस० एलियट के 'ऑब्जैक्टिव कोरिलेटिव' सूत्र तक। हमारे यहाँ साहित्यिक किंवदंतियों में एक प्रसंग कई बार आता है। अकबर बादशाह के दरबार में मियाँ तानसेन पद गा रहे थे—

जसुदा बार-बार यह भाखै

है कोउ ब्रज में हितू हमारौ चलत गोपालहिं राखै।

पद सुन कर बादशाह ने गायक से कहा कि ज़रा इसका अर्थ भी स्पष्ट कर दो। तानसेन बोले यशोदा जी बार-बार कह रही हैं कि ब्रज में हमारा कोई हितैषी हो तो जाते हुए कृष्ण को रोक ले। कुछ समय बाद बादशाह के मनोविनोद के लिए बीरबल दरबार में आए तो बादशाह ने उन से भी वही प्रश्न किया। बीरबल ने बताया कि 'बार' का अर्थ है द्वार—आरंभ का द् लोप हो गया है, जैसे 'घर-बार' में, और यों पहली पंक्ति का अर्थ होता है कि यशोदा दरवाज़े-दरवाज़े जाकर कह रही हैं। फिर किसी राज-काज से राजा टोडरमल आए तो बादशाह ने उन से भी

वही जिज्ञासा की। टोडरमल ने उत्तर दिया कि यहाँ एक 'बार' का अर्थ तो है जल और दूसरे का अर्थ है द्वार, अर्थात् जल का द्वार या कि घाट। यशोदा घाट-घाट जाकर कहती हैं। रात लगते कवि-मित्र फ़ैज़ी आए तो अकबर ने उन के सामने भी अपनी समस्या रखी। फ़ैज़ी ने 'बार' के दोनों प्रयोगों का अर्थ जल किया, पर कवि होने के नाते लाक्षणिक रूप में, और पूरी पंक्ति का भाव बताया कि यशोदा माता रो-रोकर कह रही हैं। दूसरे दिन दोपहर को अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना पहुँचे। बादशाह ने उन से भी पद का अर्थ पूछा। ख़ानख़ाना ने जानना चाहा कि क्या उन से पहले किसी ने कुछ अर्थ किया है। बादशाह ने सारा वृत्तांत कह सुनाया। तो ख़ानख़ाना ने टिप्पणी की कि इन में से किसी ने भी पद का अर्थ नहीं किया, महज़ अपना-अपना अर्थ दिया है। तानसेन गवैया हैं, एक ही पंक्ति को बार-बार गाते हैं। उन्हें यही समझ में आया कि यशोदा बार-बार कह रही हैं। बीरबल ठहरे ब्राह्मण, द्वारे-द्वारे घूमते रहते हैं, उन को लगा कि यशोदा द्वार-द्वार घूम कर कह रही हैं। टोडरमल नगर-व्यवस्था और पैमाइश के माहिर, उन्हें यही समझ पड़ा कि यशोदा घाट-घाट घूम कर कह रही हैं। और फ़ैज़ी शायर हैं, उन के लिए जीवन में रोना-धोना मुख्य है, यों उन्हें जान पड़ा कि यशोदा रो-रोकर अपनी बात कह रही हैं।

कथा यहीं पूरी हो जाती है, यह नहीं बताती कि फिर रहीम ने स्वयं क्या अर्थ किया, जिन की व्याख्या इस संदर्भ में शायद सब से उपयुक्त होती! और यों प्रश्नों का प्रश्न बना रहता है कि कविता में अर्थ कहाँ से और कैसे आता है, उस का अपना भी पक्ष कोई है क्या? एक पाठक-आलोचक-अध्यापक के रूप में सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर इस समस्या से बार-बार (हाँ, बार-बार!) जूझते रहना पड़ता है, और इस प्रसंग में जो कुछ समझ विकसित की है—और जिसे क्रमशः परिष्कृत करने का यत्न भी किया है—उस का सारांश प्रस्तुत कर रहा हूँ। कहना होगा, इस दृष्टि से अपने द्वारा लिखित पिछली सामग्री का भी कुछ उपयोग यहाँ हुआ है। विषय की विकसनशील प्रकृति को देखते हुए यह इसलिए सहज है क्योंकि अब उस का संदर्भ नया है। और यदि देखा जाए तो मूल में आलोचना-कर्म है भी क्या! इस एक ही निबंध को

बार-बार लिखना है—'बार-बार' के शायद सभी अर्थों में—कविता का अर्थ क्या है, कविता क्या है?

जो है, और उस की जो प्रतीति है, इन दोनों बिंदुओं का एक साथ संपर्क करने से जो आलोक उत्पन्न होता है उसी को एक रूप में अनुभूति कह सकते हैं और दूसरे रूप में भाषा। सहज वृत्तियों (इंस्टिक्ट्स) और सहजानुभूति (इन्टुइशन) को छोड़ कर भाषाविहीन अनुभूति संभव नहीं, इस दृष्टि से सहजानुभूति शब्द अपने में बड़ा सटीक है। यहाँ स्पष्टीकरण के लिए हम जोड़ सकते हैं कि अनुभव होने का अनुभव होना अनुभूति है, और भाषा भी। भाषा के बिना इसीलिए शिशु का काम चलता है, या फिर साधक का। संवेदन (सेंसेशंस) के आगे जितना क्षेत्र है वह सहजानुभूति को बाद देकर भाषा का है, और शुद्ध संवेदन जैसा मनोविज्ञान में कहा गया, वयस्क जीवन में एक कपोल कल्पना है, जब कि सहजानुभूति अपवाद है। यों भाषा से बाहर और परे हम जा नहीं सकते। अशोक वाजपेयी ने इसे यों कहा है, कुमार गंधर्व के न रहने पर लिखी कविता में—

न होना भाषा या कविता में संभव ही नहीं है।

समय से बाहर कदम रखना भाषा से भी बाहर जाना है।

होने और उस की प्रतीति के बीच जितना तनाव और वैविध्य है वह भाषिक संरचना के विविध अर्थ स्तरों में खुलता जाता है। जहाँ इस तनाव और वैविध्य के बजाय एकरूपता लाने की कोशिश है वहाँ विज्ञान के तात्त्विक अध्ययन हैं और हैं गणित के फ़ार्मूले। गणित, विज्ञान और दर्शन जीवन को उस के बुनियादी और तात्त्विक रूप में निचोड़ कर समझना चाहते हैं; साहित्य जीवन की प्रतिरचना—मुक्तिबोध के प्रयोग में पुनर्रचना कहना शायद बेहतर होगा—करके उसे विस्तार देकर समग्रता में ग्रहण करता है। विज्ञान और दर्शन में भाषा का प्रयोग निष्कर्षात्मक है, साहित्य की भाषिक संरचना प्रस्तारपरक है अर्थ की विविध परतों को खोलती हुई और उन की टकराहट से अर्थ की अंतहीन सर्जना करती हुई। इसीलिए साहित्य में अभिधात्मक स्तर पर दिखते अंतर्विरोधी भाषिक कथन एक दूसरे को सचमुच नहीं काटते, जब कि विज्ञान या दर्शन में एक कथन दूसरे का प्रत्याख्यान कर सकता

है, करता है। इस विशिष्टता को समझ कर ही ऑस्कर वाइल्ड ने कहा था कि साहित्य में जो सच है उस का विलोम भी उतना ही सच है।

यथार्थ के विविध स्तरों के बीच तनाव और वैविध्य को समेटने के बजाय उसे बनाए रखने के कारण भाषिक संरचना का सर्जन पूर्वोक्त नहीं किया जा सकता। इन स्तरों के बीच लगातार सक्रिय द्वन्द्वात्मकता साहित्यिक रचना को जीवन की ही भाँति निरंतर संभावनापूर्ण बनाए रहती है। जैसे एक जीवन की उपलब्धि किसी दूसरे के जीवन में संभावना बन कर आगे बढ़ती है वैसे ही रचनाओं का क्रम चलता है, जहाँ सर्जन अपनी पूरी स्वायत्तता और संप्रभुता में गतिशील रहता है। साधारण भाषा के निरंतर बदलते प्रयोग साहित्य की भाषिक संरचना से टकरा कर उसे विकसनशील बनाते हैं, और यों किसी रचना में एक सुनिश्चित अर्थ निक्षिप्त रहने के बजाय वहाँ अर्थ की विकसनशील प्रक्रिया चलती है जो अनेक देशों, कालों और व्यक्तियों की सापेक्षता में आगे बढ़ती रहती है। यह अर्थ का विराट् दर्शन है जहाँ लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के अनेक रूप सर्जन के विविध प्रतिरूप बन जाते हैं। अर्थ या कि सृष्टि के इन रूपों का आख्यान एक स्तर पर अज्ञेय की प्रसिद्ध लंबी कविता 'असाध्य वीणा' में मिलता है, जो स्वयं सर्जन-प्रक्रिया को वस्तु बना कर चलती है—

सबने भी अलग-अलग संगीत सुना।

इस को

वह कृपा-वाक्य था प्रभुओं का—

उस को

आतंक-मुक्ति का आश्वासन।

× × ×

इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की—

उसे युद्ध का ढोल :

इसे संझा-गोधूली की लघु टुन-टुन

उसे प्रलय का डमरु-नाद

इस कविता में वस्तु-स्तर पर अंकित संगीत की अनुभूति-मात्र क्रमशः साहित्य की बौद्धिक क्षमता से संपन्न होती है। संगीत का सर्जन—यहाँ कविता में कलावंत द्वारा असाध्य वीणा का साधा जाना—भाषिक संरचना में अर्थ की दृष्टि से जटिलतर हो जाता है।

इस संसार का होना न होना ज़ाहिर है कि साहित्य या कविता के होने न होने पर निर्भर नहीं। पर साहित्य या कविता का होना संसार की समझ को प्रशस्त करता है और उस की अनुभूति को समृद्ध बनाता है। कुछ ऐसा ही रिश्ता रचना और आलोचना का है। रचना का होना आलोचना के होने न होने पर निर्भर नहीं है। पर रचना की समझ और अनुभूति आलोचना के सहारे बनती तथा विकसित होती है। यों तो जैसा सार्त्र ने कहा कि यदि मनुष्य न होता तो भी सृष्टि होती और शायद बेहतर होती। पर जब मनुष्य है तो साहित्य है, और साहित्य है तो आलोचना है। यह होने और उस की प्रतीति के विविध चरण हैं। सृष्टि का रचना-क्रम मनुष्य के अवतरण से जटिल होता है, और मनुष्य का जीवन-क्रम साहित्य से। तब फिर साहित्य की अपनी अर्थ-प्रक्रिया जटिल होती है—और समृद्ध भी—आलोचना से टकराहट में। जीवन के वैविध्य, और उस की तात्त्विक एकता की अंतर-क्रिया पर आधारित 'असाध्य वीणा' की रचना, और फिर समीक्षक द्वारा उस का अनुभावन इस सर्जन-क्रम का एक अच्छा उदाहरण है।

नयी रचना-दृष्टि के संदर्भ में यह टकराहट कैसे होती है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। समीक्षा का आधुनिक रूप रचना को केन्द्र में रख कर चलता है वैसे ही जैसे रचना जीवन को रखती है। रचना और जीवन को परस्पर जोड़ने वाला तत्त्व भाषा है, और यही कारण है जिस से समकालीन रचना और आलोचना में भाषा की सजगता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। अज्ञेय से लेकर धूमिल तक अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिन की मुख्य वस्तु भाषा और रचना-प्रक्रिया है, इस अंतर के बावजूद कि भाषा को लेकर अज्ञेय के यहाँ बिंब-प्रक्रिया केन्द्र में है और धूमिल दूसरे सिरे पर सपाटबयानी के कायल हैं। ये कुछ कविताएँ हैं—'नयी व्यंजना', 'जो कहा नहीं गया', 'आज तुम शब्द न दो', 'मुझे तीन दो शब्द', 'शब्द और सत्य', 'जितना तुम्हारा सच है', 'असाध्य वीणा'—अज्ञेय,

'भाषा की रात', 'कविः १९७०'—धूमिल। ऐसे ही आधुनिक आलोचना काव्यभाषा में कविता बनने की प्रक्रिया को समझना चाहती है। कुल मिला कर आलोचना अब रचना के प्रति अनुशासन नहीं, समझ की दृष्टि रखती है। यह समझ कविता को एक निश्चित अर्थ से बाँधती नहीं वरन् उस की अनंत संभावनाओं को उन्मुक्त करती है। अर्थ की विविध परतों को एक-दूसरे से सक्रिय कर उन्हें गतिशील रखती है। आधुनिक दृष्टि से रचना जीवन के अर्थ का विस्तार करती है तो आलोचना फिर रचना के अर्थ का। यह एक अनंत संभावनाओं का जीवन-क्रम है।

यों आधुनिक साहित्य में अर्थ पहले से पूरा का पूरा धरा हुआ नहीं है। जैसे रचना मनुष्य जीवन में अर्थ का फिर-फिर अन्वेषण करती है, वैसे ही आलोचना रचना में अर्थ की नयी-नयी छवियाँ खोजती और देखती है। उदाहरण के लिए शमशेर की कविताओं, भुवनेश्वर के नाटकों या कि रघुवीरसहाय की कहानियों में कोई एक, और निश्चित पक्का अर्थ नहीं होता। वहाँ अनुभूतियों का एक संश्लिष्ट रूप या कि जीवंत प्रक्रिया है। इस माने में आलोचना आज जीवन और साहित्य के संदर्भ में किसी क़दर प्रतिरचना है। सर्जनात्मक आलोचना पद का यही अभिप्राय है कि वह अर्थ को बराबर सक्रिय और सर्जनशील रखती है, न कि वह रचना के संदर्भ में एक और रचना है। जैसा कहा गया, आलोचना को हम आज प्रतिरचना या कि पुनर्रचना मानते हैं। स्पष्ट ही यहाँ रचना और आलोचना दृष्टि में एक सामंजस्य है। नयी रचना मानवीय जीवन और अर्थ को उस की समग्रता में पकड़ना चाहती है। आलोचना रचना में अर्थ की विकसनशील प्रक्रिया को उन्मुक्त करके उस पकड़ को और संभावनापूर्ण बना देती है। इस तरह दोनों का बुनियादी सरोकार एक है—जीवन में अर्थ की संभावना को ख़त्म न होने देना।

कविता की इस अर्थ-प्रक्रिया में स्पष्ट ही पाठक-श्रोता-आलोचक की भूमिका बढ़ जाती है। सामाजिक के रूप में पाठक-श्रोता के दायित्व को संस्कृत काव्यशास्त्र में भी रेखांकित किया गया था। पर आधुनिक कविता के संश्लिष्टतर स्वरूप के संदर्भ में तो जैसे कवि और पाठक-श्रोता के बीच बराबर की साझेदारी हो गई हो। अपनी एक छोटी कविता में अज्ञेय—हो सकता है कुछ खीज की मुद्रा में—अपने को खेत कहते हैं

जिस में पाठक की 'प्रतिभा/ मेरे अनजाने, अनपहचाने/ अपने ही मनमाने/ अंकुर उपजाती है।' अभी तक की लक्षणा के अनुसार पाठक-श्रोता-सामाजिक का हृदय खेत था जिस में कवि की प्रतिभा अपने मनमाने अंकुर उपजाती थी। नयी कविता के मुखिया कवि ने जैसे लक्षणा को पूरी तरह उलट दिया हो चाहे स्वेच्छा से, चाहे प्रतिक्रिया में। इस संक्षिप्त कविता के कुछ व्यक्तिगत रचना-संदर्भ को मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है (द्र० 'साहित्य के नये दायित्व'—'सर्जन-संप्रेषण: नये संदर्भ' शीर्षक अध्याय)। बहरहाल, कविता की अर्थ-प्रक्रिया में अलग-अलग ग्रहीता का बढ़ता महत्त्व समकालीन जनतांत्रिक मनोवृत्ति के उभार से जोड़ कर भी देखा जाना चाहिए। और आलोचक का दरजा यहाँ प्रथम तथा मुख्य ग्रहीता का है।

तब कविता में अर्थ-प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से ज़रूरी है कि सामान्य भाषा और अनुभव की अंतर-क्रिया को समझा जाए। अर्थ की दृष्टि से भाषा का आरंभिक प्रयोग अपने में उपकरणात्मक है, जिसे सृष्टिपरक कहा जा सकता है। सृष्टिपरक से सामान्य भाषा प्रयोगकर्त्ता और फिर क्रमशः कवि के प्रतिभा-प्रयोग उसे सर्जनात्मक बनाते हैं। बच्चे ने गलबल करते अपने ओठों को सहज ही जोड़ दिया—ध्वनि हुई 'माँ' या ऐसी कुछ। माँ—जो तब तक नहीं है—ने जोड़ा कि यह उस के लिए संबोधन है। यों 'माँ' ध्वनि से शब्द और पद हो गया। उस के साथ कई सहज वृत्तियाँ जुड़ गईं। तब 'माँ' जननी जन्मभूमि के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा। अपने यहाँ बंगाल में 'माँ' का प्रयोग दुर्गा या काली या सरस्वती के लिए प्रचलित हुआ। फिर कहा जाता है, स्वामी विवेकानंद ने माँ की आध्यात्मिक परिकल्पना को लौकिक स्तर पर जन्मभूमि के साथ जोड़ दिया, और पहली बार 'भारतमाता' शब्द का प्रयोग किया। निराला के प्रसिद्ध गीत 'भारति, जय विजय करे' में माँ सरस्वती ('अंचल में खचित सुमन') और भारतमाता का संश्लेष बहुत-कुछ इसी रूप में है। यों एक शब्द की क्रमशः अनेक छायाएँ होती जाती हैं। इन विविध छायाओं की परस्पर टकराहट और संश्लेष से विचार और अनुभूति के मिले-जुले व्यापकतर अर्थ का सृजन होता है, और बदलते आसंगों तथा संदर्भों के कारण होता रहता है।

किसी एक स्थिति को यों अन्य संदर्भों में प्रक्षेपित करने से क्रमशः कई अर्थ-छायाएँ निष्पन्न होती हैं। यह अर्थ-प्रक्रिया ही लक्षणा या 'मेटाफ़र' का मूलाधार है, जो कि महज़ अप्रस्तुत विधान नहीं बल्कि गहरी भाषिक संरचना का अंग है। आधुनिक काल में बिंब-प्रक्रिया के अपने विकास के पीछे मध्यकालीन अलंकार-विधान से अलगाव, और लक्षणा की भाषिक शक्ति का अवलंबन देखा जा सकता है। अलंकार काव्य-शैली या शिल्प के अंतर्गत हैं, लक्षणा भाषिक संचरण का माध्यम है। प्रतीक और बिंब इसीलिए भाषा में पर्यवसित हो जाते हैं, स्वयं कविता हो जाते हैं; जब कि अलंकार उस में ऊपर से जड़े दिखाई देते हैं, और उसी स्थिति में कविता की सौंदर्य-वृद्धि करते हैं। प्रसाद के मुहाविरे में 'वे वृंदावन ही बन सके, श्याम नहीं।'

यह सही है कि अनुभव-मात्र भाषा में रूपांतरित नहीं होता, शायद हो नहीं सकता, और उस की अपेक्षा भी नहीं है। अनुभव पाने के दो साधन हैं—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रियों से प्राप्त अनुभव अनुभव का प्राथमिक स्तर है, और यहाँ मानव तथा पशु समान हैं, कहना चाहिए कि इस स्तर तक मानव पशु ही है। अनुभव का यह रूप सीधे भाषा में नहीं ढलता, अनुभव ही बना रहता है। उत्तम भोजन और 'सैक्स' का अनुभव भाषा से परे है। इसी तरह योग का अनुभव है, जहाँ चित्त-वृत्तियों का निरोध कर लिया जाता है। साधक अपने को शरीर में स्थगित रखता है, मन में एक तरह का निर्वात उत्पन्न करके। इसीलिए साधना का अनुभव भी भाषा को नहीं जानता। अनुभव के ये सारे रूप शरीर के स्तर पर हैं, और शरीर की भाषा तो, दिनकर की उर्वशी के शब्दों में, रक्त है। इस शरीर की भाषा का समानांतर अनुभव होना भाषा बनता है। ग़ालिब ने इसी प्रक्रिया को बताया था 'रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ाइल/ जब आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।'

दूसरी ओर भाषा में ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त अनेक व्यक्तियों और युगों की अनुभूतियाँ तथा विचारधाराएँ एक-दूसरे से टकराती हैं, देश और काल का विराट् संगम होता है। इस टकराहट और संगम में जितना भाषा की सही समझ का हाथ है, ग़लतफ़हमी का उस से कुछ कम योगदान नहीं। लाक्षणिक प्रयोग एक तरह से जान-बूझ कर की गई

ग़लतफ़हमी हैं ('गंगा में घोष है') जिस से भाषा के सृजन में अर्थ की नयी परतें बनती हैं। यों ग़लतफ़हमी से अधिकतर सामान्य बोलचाल की भाषा विकसित होती है, जब कि लक्षणा काव्यभाषा का प्रमुख उपादान है। पर इस के उल्टे उदाहरण भी बराबर मिल जाएँगे। साधारण-सामान्य शब्द ('पत्र'), मुहाविरे ('खून खौलता है') से लेकर कविता ('दुःख सब को माँजता है') की रचना लक्षणा, यानी दो या अधिक संदर्भ-क्षेत्रों को परस्पर संपर्कित कर देने से होती है। यों भाषिक संरचना का अपना क्रम ही आगे चल कर कविता हो जाता है; बहुत कुछ होम्योपैथी पद्धति की तरह भाषा जितनी बार संवेदना में डुबोई जाती है, उतनी ही हल्की पर अधिक क्षमताशील होती जाती है। पहले कहा गया कि अनुभव होने का अनुभव अनुभूति है, और भाषा भी। अब हम कह सकते हैं कि अनुभव होने के अनुभव होने का अनुभव कविता है। प्लेटो इसे यथार्थ से तिहरी दूरी कहता और इसे अवांछनीय बताता, हमारी दृष्टि में यह अनुभव का तिहरा संश्लिष्ट और इसलिए यथार्थ तथा काम्य रूप है।

भाषा के सामान्य प्रयोग में बात, और जिस भाषा में बात कही जा रही है, उन के बीच शाब्दिक स्तर पर साम्य होने पर भी अनुभवगत अंतर होता है। पर कविता की भाषा में, यानी अधिकतम सर्जनात्मक भाषा में, यह अंतर नहीं रह जाता, बात और भाषा में अभेद रहता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा और व्यंजना का जो लक्षण निर्धारित किया है, उस में स्थिति इस के कुछ विपरीत है। वहाँ बात और भाषा में, व्यंजना शब्द-शक्ति के अंतर्गत, सीधा संबंध नहीं रह जाता। वस्तुतः इस मान्यता में व्यंजना के चमत्कारी पक्ष पर अधिक बल देना हुआ है। यों व्यापक रूप में कविता की अर्थ-प्रक्रिया के लिए 'व्यंजना' बहुत उपयुक्त अवधारणा है। पर पारिभाषिक रूप में शास्त्रीय लक्षणकारों ने व्यंजना को कुछ अच्छे ढंग से उपस्थित नहीं किया—बाधित नायिका द्वारा तपस्वी साधु को, वन में भूँकने वाले कुत्ते को सिंह ने मार डाला, यह सूचना देते हुए निर्भय घूमने की सलाह देना, चतुर उक्ति अधिक सहज कविता कम है। यहाँ सारी पड़ताल शब्दशः अर्थ की दृष्टि से की गई है, अनुभव-संप्रेषण की दृष्टि से नहीं। अधिकतम सर्जनात्मक काव्यभाषा में—जो व्यंजना से अभिप्रेत होना चाहिए—

'मुख्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' की अलग-अलग परिकल्पना नहीं रह सकती। वहाँ तो समूचा अर्थ समरस और संश्लिष्ट है, और 'व्यंग्यार्थ' के ही सूक्ष्म स्तरों की टकराहट से यह व्यंजना परिचालित होती है, 'मुख्यार्थ' का स्वयं कोई अलग रूप नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रख्यात अमरीकी कवि आर्किबाल्ड मैक्लीश द्वारा यह ठीक ही कहा गया है कि कविता का कोई अर्थ नहीं होता, कविता बस होती है। आधुनिक रचना-प्रक्रिया तथा साहित्य-चिंतन के संदर्भ में जब हम बात और भाषा के अभेद और अद्वैत की बात कहते हैं तो हम तनाव पर उतना ही बल देते हैं जितना कि अभेद पर। अनुभव और अर्थ का यह संबंध समझना कविता और सर्जनात्मकता की प्रक्रिया को अधिक गहरे और प्रकृत रूप में समझना है। यही भाषा और संवेदना का अद्वैत है, जहाँ दोनों एक नहीं हैं। पर अलग-अलग होकर भी एक हो जाते हैं।

कविता में अर्थ के अद्वैत की यह समझ आधुनिक तथा भारतीय, साहित्य-चिंतन के दोनों क्षेत्रों में अभी नयी है। एलियट—जो बिंबवादी आंदोलन से भी संबद्ध रहे हैं—का प्रख्यात विभावन 'ऑब्जैक्टिव कोरिलेटिव' अपने द्वैतवादी दृष्टिकोण के कारण अर्थ की इस सूक्ष्म, सुकुमार प्रक्रिया को अनदेखा कर जाता है। आधुनिक कविता और उससे जुड़ी आलोचना ने यह क्षमता और समझ विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अर्थ एक और सीधा नहीं है, पर मध्यकालीन श्लिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अर्थ भी नहीं हैं, वरन् एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर अपने तनाव और संश्लेष से एक वृहत्तर अर्थ की सृष्टि करते हैं। रचना में अर्थ का यह अद्वैत भाव शरीर-संभोग और ब्रह्म-साक्षात्कार जैसी सृजन-प्रक्रियाओं के समानांतर देखा जा सकता है।

हिंदी काव्यालोचन के विकास पर यदि एक नज़र डालें तो कह सकते हैं कि आरंभिक दौर में बल निर्णय पर था (रचनाकारों को, परीक्षक की भाँति अंक देने की सीमा तक), फिर तुलना, और उसके बाद विवेचन की प्रक्रिया क्रमशः महत्त्वपूर्ण होती गई। मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा और रामचंद्र शुक्ल इन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। शुक्लोत्तर परिदृश्य पर शास्त्र तथा आलोचना के आगे साहित्य-चिंतन गति पकड़ता है, और इधर 'निर्णय', 'तुलना', 'विवेचन' से आगे रचना

के अर्थ-संवर्द्धन पर बल है; जैसा पहले संकेत किया गया, आधुनिक आलोचक रचना में इतर पक्षों पर ध्यान न बाँट कर मुख्य रूप से अर्थ का संधान करता है। आलोचना-प्रक्रिया में इस परिवर्त्तन के कारण काव्यभाषा पर अब उस का ध्यान अधिक जाता है, क्योंकि नयी अर्थ-छवियों की खोज वहीं संभव है। इस रूप में वर्तमान संचार-साधनों के दौर में वह साहित्य की नयी भूमिका को उजागर करता है, जहाँ संचार के एकतरफ़ा प्रेषण के विपरीत रचना के संप्रेषण में भावक की भागीदारिता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने क़ी नीयत बढ़ती पर है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि कुछ मार्क्सवादी आलोचक भी भाषिक प्रक्रिया को केन्द्र में रख कर चलना चाहते हैं, पर यहाँ उन का उद्देश्य रचना के अर्थ का संवर्द्धन नहीं, वरन् अपने प्रतिबद्ध दृष्टिकोण को समार्थित करना है। पाठक और आलोचक की भागीदारिता की बात यहाँ दूसरे रूप में, निर्देशित ढंग से चलती है, जहाँ महत्त्व फिर रचनाकार का न होकर राजतंत्र की विचारधारा का हो जाता है, जिस के कि अनुसार रचना में अर्थ का संधान होना है। वैसे ही जैसे कम्यूनिस्ट पद्धति में चुनाव का अधिकार था, पर एक विचारधारी दल के भीतर ही। प्रसिद्ध अँग्रेज़ी आलोचक फ्रैंक करमोद ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री एंड वैल्यू' में इस दृष्टिकोण का अच्छा विवेचन किया है। इसे उन्होंने 'अंतराल का सिद्धांत' (डिस्क्रीपेंसी थ्योरी) नाम दिया है। उन के अनुसार मार्क्सवादियों के लिए इस प्रक्रिया का विशेष प्रयोजन है, क्योंकि इस के सहारे वे प्राचीन रचनाओं का मनमाना अर्थ देकर 'मार्क्सवाद के हित में अतीत के साहित्य को सुरक्षित करते हैं'। इस कोटि के आलोचकों में उन्होंने टैरी ईगल्टन तथा फ्रैडरिक जेम्सन की चर्चा की है। ईगल्टन साहित्य-सिद्धांत का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि आलोचना का दायित्व है कि 'वह रचना के पाठ को वह शक्ल दे सके जो रचना को स्वयं ज्ञात नहीं है।' यह तो हुई प्रतिबद्ध दृष्टिकोण की स्थिति। रोचक बात यह है कि दूसरी ओर स्वतंत्र दृष्टिकोण के समर्थक अमरीका में भी, भले कुछ भिन्न संदर्भ में, बहुत कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति विकसित हो रही है। वहाँ के संविधानशास्त्री इस स्थिति को लेकर चिंतित हैं कि वहाँ के राजनीतिज्ञ अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार संविधान की मनमानी व्याख्या करते हैं, उस

के 'मूल अभीष्ट' ('द ओरिजिनल इंटैंट') की अनदेखी करके। अपने बहुचर्चित तथा बहुपठित ग्रंथ 'मोहित अमेरिका' ('टैम्पटिंग ऑफ़ अमेरिका : द पोलिटिकल सिडक्शन ऑफ़ द लॉ') में भूतपूर्व न्यायाधीश रॉबर्ट बोर्क ने प्रयत्नपूर्वक किए गए इस मति-भ्रम का अच्छा विवेचन किया है। दोनों जगह राजनीति भाषा के दुरुपयोग से मनमाना अर्थ साधना चाहती है मूल अभीष्ट की अवज्ञा करके। स्पष्ट ही यह आलोचना रचना के लिए नहीं, रचना की कीमत पर अपना हित साधती है। यहाँ रचना का अर्थ-संवर्द्धन नहीं राजनैतिक पक्ष का संवर्द्धन है, जिस के कई रोचक उदाहरण करमोद ने अपने उपर्युक्त व्याख्यानों में प्रस्तुत किए हैं। इसीलिए उस ने व्याख्या की इस शैली को नाम दिया है, 'अंतराल का सिद्धांत', जहाँ 'रचनाकार के मूल अर्थ और जो अर्थ हम उसे देना चाहते हैं उस में फाँक पड़ जाए।'

समकालीन कविता की बनावट ने कविता की अर्थ-प्रक्रिया को अपने ढंग से कठिन बनाया है। एक ओर पाठक-श्रोता की रचनात्मक भागीदारिता है जिस के कारण अर्थ की एकनिष्ठता प्रभावित हुई है तो दूसरे छोर पर स्वयं कविता का स्वरूप-विन्यास क्रमशः अस्त-व्यस्त हुआ है। एकदम समकालीन परिदृश्य पर कविता की पहिचान कठिनतर होती गई है, इस पर कुछ विचार यहाँ अपेक्षित होगा। हिंदी कविता के रचना-विधान का यदि परीक्षण किया जाए तो स्पष्ट दिखेगा कि संस्कृत का व्याकरण तथा वर्ण और लिपि-विन्यास जिस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं में—हिंदी का स्थान जहाँ समानों में प्रथम है—उत्तरोत्तर सरलीकृत होता गया है, उसी प्रकार छंद-विधान का भी विकास हुआ है। संस्कृत का छंद-विधान वर्ण वृत्तों पर आधारित था जहाँ प्रत्येक चरण में वर्णों का लघु-दीर्घ क्रम पूरी तरह से सुनिश्चित था, तब मात्राएँ अपने-आप ही बराबर होनी थीं। हिंदी ने इस कठोर अनुशासन से अपने को मुक्त किया, और अपने छंद-विधान को अधिकतर मात्राओं की गिनती के हिसाब से व्यवस्थित किया। संस्कृत द्रुतविलंबित से हिंदी चौपाई का विधान सरल हुआ—वर्ण वृत्त से मात्रिक छंद। उर्दू का विधान और सरलीकृत था जहाँ न वर्णों का क्रम और न मात्राओं की गिनती, सिर्फ़ कुछ वज़न निर्धारित कर लिए गए जिन के बराबर छंद की पंक्ति को

होना था। आधुनिक काल के आरंभिक खड़ी बोली कवियों ने, जिन में जयशंकर प्रसाद शामिल हैं, इस विधान को कभी-कभी अपनाया। ऐसी पंक्तियाँ गायन, विशेषतः सामूहिक गायन के लिए अधिक उपयुक्त होती थीं। निराला ने फिर पहली बार मुक्त छंद का प्रयोग किया 'जुही की कली' में (१९१६)। उन का मुक्त छंद कवित्त की ज़मीन पर बना था—कवित्त को निराला ने हिंदी का जातीय छंद कहा है। इस मुक्त छंद का पहले काफ़ी तीखा विरोध हुआ—जो कि होना ही था—फिर धीरे-धीरे वह प्रचलित हो गया। कवित्त छंद पर आधारित होने के कारण लयात्मकता उस में काफ़ी-कुछ सुरक्षित थी। नयी कविता ने इस काव्य-लय का भी परित्याग करके लगभग गद्य की लय पर अपना छंद रखा, जिसे हम गद्य-कविता कह सकते हैं ('नयी कविता' पत्रिका के दूसरे अंकः १९५५ में ही 'गद्य कविता' यह नामकरण मैंने प्रस्तावित किया था)। यहाँ कविता ने अपने विधान के लिए कम से कम उपकरण स्वीकार किए, सिर्फ़ भाषा में अपने को रचा। सामान्य भाषा में जो और जितनी लय सहज भाव से रहती है उतने को रचना के लिए पर्याप्त माना।

इस विकास-क्रम में परिलक्षित करने की बात यह है कि नयी कविता बाह्य विधानों को जितना छोड़ती गई उतना ही अपने लिए आंतरिक अनुशासन कड़ा करती गई है। शमशेरबहादुरसिंह और रघुवीरसहाय में इस गद्य कविता का श्रेष्ठतम रूप देखा जा सकता है। कविता का यह रूप बनता कैसे है इस की व्याख्या स्वयं शमशेर के शब्दों में इस प्रकार है—"अगर इसी अनुभव को एक दूसरे स्तर पर ले लें तो आधुनिक मुक्त छंद में, जो छंदों के गणों के नहीं, गद्य की लय की शरण जाता है, बल्कि सीधे-सीधे गद्य की स्वाभाविक बोलचाल की गति को आधार बनाकर चलता है·······यानी गद्य की पंक्ति को या वाक्य को प्रेषित करता है, कि स्वाभाविक रूप में गद्य के छोटे-बड़े टुकड़े, तुकों का सहारा न होने पर भी धुँधले तौर से एक लय में बँध जाते हैं, जिसे गद्य की लय कह सकते हैं।" ('काल, तुझ से होड़ है मेरी' संग्रह की भूमिका : १९८८)।

एकदम समकालीन कविता में नयी कविता का यह ऊपर से सरल दिखता विधान प्रचलित हुआ, पर आंतरिक अनुशासन ढीला पड़ गया।

परिणाम यह हुआ कि कविता में एक तरह का वक्तृत्व प्रधान हो गया, और उस की अर्थ-सघनता कम हो गई। छंद के बंधन में एक तरह की सुविधा यह थी कि उसके विधान में शब्दों के चुनाव पर ध्यान स्वभावतः पूरा रखना पड़ता था। स्वयं निराला का काव्य इस प्रक्रिया का बहुत बड़ा अच्छा उदाहरण है। 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति' और 'तुलसीदास' का विधान विराट् स्थापत्य के नमूने हैं भाषा में। मुक्त छंद का प्रवर्त्तन करने वाले कवि का अधिकांश प्रसिद्ध काव्य छंदबद्ध है, यह अपने में एक अंतर्विरोध है निराला के व्यक्तित्व के सर्वथा योग्य!

वर्ण वृत्त-मात्रिक छंद-वज़न-मुक्त लय—गद्य लय: काव्याधार का रूप यों उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता गया है। इतने सूक्ष्म रूप में कविता रचना जितना कठिन है वैसा ही कठिन है उस का अभिज्ञान। यही कारण है कि आज स्वयं कवि बहुत बार ठीक-ठीक समझ नहीं पाता कि उसने कविता रची है, और तब न पाठक तथा समीक्षक। कविता यों आज बहुत बार 'तथाकथित' है, उसे अपनी इयत्ता यत्नपूर्वक प्रमाणित करनी होती है। कविता का विधान ऊपर से देखने में जितना सरल हो गया है, रचना-कर्म अंदर से उतना ही कठिन हुआ है। छंद या लय, जिस को लेकर छंद का अस्तित्व है, की चिंता करने पर बरबस कवि का ध्यान शब्दों के चुनाव पर रहता था, निराला के उदाहरण से इस स्थिति को अभी स्पष्ट किया गया। यहीं इस तथ्य की ओर ध्यान और गहरा होता है कि शब्द का समूचे काव्य-विधान में केन्द्रीय महत्त्व है। मलार्मे की उक्ति अपने चित्रकार मित्र देगास के लिए प्रसिद्ध है, "कविता, मित्रवर देगास, विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है।" कविता में उपर्युक्त लय—चाहे वर्ण वृत्त जैसी तीव्र हो या कि गद्य जैसी हल्की—की पहिचान अंतः प्रज्ञा के सहारे कुछ-कुछ वैसी है जैसी कि शरीर में नाड़ी की। यह मानो जीवन की और सृष्टि की ही पहिचान है, और अंततः सर्जन की भी।

मलार्मे ने 'विचार' और 'शब्द' के बीच काव्य-रचना के संदर्भ में जो अंतर खींचा है, उसे और आगे बढ़ा कर दर्शन और कविता के भेद को समझा जा सकता है, जिस का विभाजक कारक भाषा-प्रयोग-विधि है। दर्शन एक स्थिति में कविता का सबसे बड़ा दुश्मन हो जाता है। यों

कविता में दर्शन स्वतः विकसित होता चलता है—वह यहाँ प्रक्रिया है; जब कि व्यवस्थित दर्शन को—अर्थात्. एक निष्पत्ति को—कविता में ढालना प्रायः निष्फल होता है। रवीन्द्र की मूल बँगला में लिखी 'गीतांजलि' और अरविंद की मूल अँग्रेज़ी में लिखी 'सावित्री' के बीच यही अंतर है। इस संदर्भ में कुछ विस्तृत विवेचन दूसरे अध्याय में कविता और दर्शन के संबंध के प्रसंग में होगा।

समकालीन परिदृश्य पर सीमित शब्द-लय के सहारे गद्य से कविता बनाने का ढंग निश्चय ही बहुत प्रभावी, पर उतना ही खतरनाक है। क्योंकि इस में कविता या तो बनती है या फिर बिलकुल नहीं बनती; बीच की कोई स्थिति नहीं बचती। यही कारण है जिस से आज कविता और नकविता का अंतर एकदम मद्धिम पड़ गया है न केवल पाठक और आलोचक के लिए वरन् स्वयं कवि के लिए भी। बाहरी अनुशासन कुछ अधिक रहा नहीं जाँचने के लिए, आंतरिक अनुशासन उसने स्वयं शिथिल कर लिया। ऐसे विषण्ण परिदृश्य पर गद्य और अख़बार दोनों को मिला कर एकदम नये ढंग से कविता बनाई रघुवीरसहाय ने। पर ऐसा तो नहीं कि इस प्रक्रिया की भी सारी संभावनाएँ अब पूरी कर ली गई हों? तब कुछ और रास्ता निकालना होगा फिर कविता-संभव के लिए, मुक्तिबोध को स्मरण करते हुए, 'नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती।'

कविता के अर्थ से संबंधित जिस बोध-कथा के साथ प्रस्तुत अध्याय आरंभ हुआ था उस में से गंभीर और बुनियादी प्रश्न यही उभरता है कि रचना में कवि का अर्थ कितना है, और कितना पाठक-श्रोता अपनी ओर से जोड़ता या कि जोड़ सकता है। काव्यभाषा के प्रसंग में लक्षणा-व्यंजना का विवेचन करते समय या कि प्रतीक-बिंब का वैशिष्ट्य समझते समय इस प्रश्न से बार-बार सामना करना पड़ा है। इस का समाधान यही हो सकता है कि रचना में अर्थ का संवर्द्धन हर पाठक-श्रोता और आलोचक करता है अपने ढंग से, पर यह अर्थ ऐसा होना चाहिए जिसे कि उस तक पहुँची हुई रचना ठीक-ठीक अपने में धारण कर सके। ऐयारी उपन्यासों के तिलिस्म की तरह कविता का तिलिस्म खोलने के लिए भी कुंजी उसी के भीतर रखी होती है। कोई एक शब्द, शब्द की

भंगिमा या कि मुहाविरा वह कुंजी हो सकता है जिस से कि उस रचना को खोला जा सकता है, और उस के अंदर दूर-दूर तक पैठा जा सकता है। 'उस तक पहुँची हुई रचना' का भाव यह है कि जैसे तुलसी का रामचरितमानस जब हमारे युग का पाठक पढ़ता है तो तुलसी के अर्थ में रामचंद्र शुक्ल जैसे समर्थ और भावज्ञ आलोचक की व्याख्या धीरे-धीरे अनजान में जुड़ जाती है। यों हर महत्त्वपूर्ण आलोचक और सामान्य पाठक भी के माध्यम से बड़ी रचनाओं का अर्थ प्रशस्त और संवर्द्धित होता चलता है। सच पूछिए तो बड़ी और कालजयी रचना की एक पहिचान यह होगी कि वह अपने पाठ में इस पीढ़ी-दर-पीढ़ी की अर्थ-प्रक्रिया को आत्मसात् कर पाती है या नहीं। हर नयी व्याख्या और आलोचना में मूल रचनाकार के अपने युग-बोध और आलोचक के अपने युग-बोध—युग-बोध से अभिप्राय देश-काल-परिस्थिति की अपनी समूची अंतर-क्रिया से है—की टकराहट कौंधती है, बशर्ते उसकी व्याख्या और आलोचना 'प्रतिबद्धता' तथा 'स्वातंत्र्य' दोनों से भिन्न, उपर्युक्त रूप में 'अनासक्त' बनी रह सके। यह दुहरा युग-बोध परस्पर एक दूसरे को नियंत्रित तथा अनुशासित करता है, और उन की टकराहट में की अनासक्ति ही वह मर्यादा बनाती है जिस के आलोक में किसी अर्थ की संगति जाँची जा सकती है। अन्यथा अनियंत्रित अर्थ-प्रक्रिया तो ऐसी व्याख्याओं को संभव करेगी जिसे आज का परेशान पश्चिमी आलोचक, उँबर्तो इको की शब्दावली में 'ओवर-इंटरप्रिटेशन' कहता है, और जिसे हमारी परंपरा में 'अतिव्याख्या दोष' कहा जाएगा। इस आधुनिक अति व्याख्या दोष से बचते हुए, और 'प्रतिबद्ध' तथा 'उन्मुक्त-स्वतंत्र' व्याख्याओं को बचाते हुए ही हम कविता के अर्थ और मूल स्वरूप तक पहुँच सकते हैं; तथा उस के पक्ष को सही परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं, जिसके लिए पाठक-आलोचक का अनासक्त आस्वाद दूर तक सहायक होगा। व्याख्या वहाँ तक अर्थ की व्याख्या है जहाँ तक मूल रचना उसे वापस अपने भीतर धारण करने में समर्थ है और उस से अपने को कुछ संपन्नतर पाती है, उससे आगे वह अतिव्याख्या है, अनर्थ है।

आसक्ति किसी पूर्वनिर्धारित वस्तु, व्यक्ति या विचारधारा के लिए उत्कट लालसा या अकांक्षा का भाव है। ऐसे किसी भाव के साथ जब

पाठक-श्रोता कविता की ओर जाता है तो वहाँ अर्थ-विकृति की संभावना बनती है, जिसे अतिव्याख्या दोष की संज्ञा दी जा रही है, क्योंकि पाठक-श्रोता की आकांक्षा का वेग रचना के अपने अर्थ-प्रवाह को मोड़ देगा। यों रचना में अर्थ पूरी तरह खोल लिया या दिया नहीं गया, मानव जीवन का अपना अर्थ स्वयं वैसा स्पष्ट और सीधा नहीं है। पर उस अर्थ की दिशा है। उस दिशा को समझ और पकड़ कर गतिशील होना पाठक और कविता के बीच सही संबंध-सेतु बनाता है, जिस पर दोनों ओर से आया-जाया जा सकता है। पाठक-श्रोता कविता से अर्थ ग्रहण करता है, और उस पाठक-श्रोता की भावज्ञता बहुत बार रचना को नयी अर्थ-छवियों से संपन्न करती है। इन में से आलोचक को प्रथम पाठक-श्रोता कहा जा सकता है। यों यह अर्थ-प्रक्रिया बराबर गतिशील रहती हुई, अनासक्त भी बनी रहती है। अर्थ यहाँ पूर्वनिर्धारित आकांक्षा का परिणाम न होकर पाठक-श्रोता-आलोचक के संस्कारों के सहारे सक्रिय होता है। पाठक की आसक्ति अर्थ को किसी एक ख़ास दिशा में बाँधती है, उसकी अनासक्ति कविता के अर्थ को जीवन की ही तरह नयी-नयी संभावनाओं से परिपूर्ण रखती है। कहना न होगा कि यह अनासक्त अर्थ-प्रक्रिया ही कविता की सर्जनात्मकता को संचार-साधन की यांत्रिकता से अलग करती है। इस दृष्टि से आधुनिक संदर्भ में यह अर्थ की अनासक्ति कविता का कोई गुण नहीं, उस का धर्म है। इन आधुनिक संदर्भों की विस्तृत विवेचना अगले अध्यायों में होगी, जहाँ कविता की इस अनासक्त अर्थ-प्रक्रिया का औचित्य और स्पष्ट हो सकेगा।

●

कविता, विचारधारा और दर्शन : निष्ठा बनाम प्रतिबद्धता

२.

कविता, विचारधारा और दर्शन : निष्ठा बनाम प्रतिबद्धता

अपनी यशस्वी कथा-कृति 'द नेम ऑफ़ द रोज़' (तुलनीय प्रायः चार दशक पूर्व प्रकाशित 'बाणभट्ट की आत्मकथा'—हजारीप्रसाद द्विवेदी) की भूमिका के अंत में प्रख्यात इटैलियन लेखक और साहित्य-चिंतक अंबर्त्तो इको कुछ हल्के व्यंग की मुद्रा में कहते हैं, "जिन दिनों (वर्ष १९६८ ई०) ऐबे वैले का ग्रंथ मुझे मिला था उस समय बहुप्रचलित धारणा यह थी कि रचनाकार को सिर्फ़ वर्तमान से प्रतिबद्ध होकर लिखना चाहिए ताकि संसार को बदला जा सके। अब, लगभग एक दशक बाद, अपनी पूर्व गरिमा को प्राप्त साहित्यकार प्रसन्नतापूर्वक विशुद्ध लेखन-निष्ठा से प्रेरित होकर लिख सकता है।" (१९८०)। व्यंग एक ओर लेखक की अपनी शैली में है—इको वर्तमान समय में काव्यभाषा के प्रमुख विश्लेषक और आलोचक हैं—प्रतिबद्धता के ऊपर, वहीं दूसरी ओर नाटकीय व्यंग इस बात में है कि घोषित रूप में 'समकालीन जीवन के प्रति पूरी तौर से उदासीन' यह कथा-कृति भविष्यपुराण जैसी वर्तमान अनुगूँजों के साथ विश्व-साहित्य के संदर्भ में एकबारगी समकालीन क्लैसिक बन गई है, लोकप्रियता की दृष्टि से भी और साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से भी।

महत्त्वपूर्ण है निष्ठा और प्रतिबद्धता के बीच विवेक करना। निष्ठा भीतर से आती है, प्रतिबद्धता बाहर से। बाहर और भीतर के द्वन्द्व से कवि को अनेक स्तरों पर जूझना पड़ता है। उपन्यासकार वर्णन से, और इसलिए बाहर से, अनिवार्यतः जुड़ा है, बाहर का अभ्यंतरीकरण उस के रचना-कर्म का प्रमुख अंग है। कवि के लिए दोनों ओर की यात्रा बराबर

चलती है, भीतर से बाहर, बाहर से भीतर; पर निष्ठा उस की भीतर है, बाहर से वह अधिकतर आशंकित है। याद करें निराला को—

बाहर मैं कर दिया गया हूँ

भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।

अज्ञेय का 'सरस्वती-पुत्र' भी बहुत कुछ इसी भाषा में कहता है—

बाहर वह/खोया-पाया, मैला-उजला/दिन-दिन होता जाता वयस्क/ दिन-दिन धुँधलाती आँखों से/सुस्पष्ट देखता जाता था।

दोनों स्थितियों में यहाँ एक जैसा भाव है—रूढ़ समाज कवि को जैसे-जैसे बहिष्कृत करता है वैसे-वैसे विद्रोही कवि आंतरिक रूप से अपने को समृद्ध करता चलता है। फिर नयी कविता युग की दो प्रसिद्ध लंबी कविताएँ आती हैं: गजानन माधव 'मुक्तिबोध' की 'अँधेरे में' और अज्ञेय की 'असाध्य वीणा', जिन दोनों में कवि-कलाकार की रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति की समस्या का बड़े संवेदनशील ढंग से अंकन हुआ है और रचना के सूत्र 'बाहर'-'भीतर' की टकराहट में अनुस्यूत हैं। लगता है कि इन कविताओं के संदर्भ में 'भीतर'-'बाहर', 'निष्ठा' और 'प्रतिबद्धता' का अंतर बेहतर समझा जा सकता है बजाय इस विषय पर चलती रूसी-अमरीकी विचारकों के उद्धरणों से सजी पांडित्यपूर्ण बहसों के। यहाँ हम इन कविताओं पर अपना ध्यान पहले केन्द्रित करेंगे तब बहस पर। पिछले कई वर्षों में साम्यवादी व्यवस्था और प्रतिष्ठान के विघटन से शीर्ष प्रश्न पर बहुत-सी व्यावहारिक बहस यों अब मद्धिम पड़ गई है। तब यह उचित अवसर है कि इस समस्या पर अनावश्यक उत्तेजना के बिना विचार किया जाए। क्रम होगा कविता से बहस की ओर न कि इस का विलोम। उत्तेजना से उपराम होने का यह अपने में एक ढंग होगा।

कविता, विचारधारा और दर्शन के पारस्परिक संबंध के प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है स्वयं कविता का, फिर कवि का और तब आलोचक-विचारक का। अभी जिन कई कविताओं का उल्लेख किया गया उन में से निराला की 'बाहर मैं कर दिया गया हूँ' प्रस्तुत संदर्भ में हमारा ध्यान सबसे अधिक खींचती हैं। जैसा संकेत किया गया, बाहर

विचारधारा है, भीतर निष्ठा, फिर भीतर और बाहर को परस्पर संपर्कित करने में रचना-दृष्टि की सृष्टि होती है। विचारधारा तात्कालिक संदर्भों से जुड़ी अधिक है, जब कि दर्शन जीवन के बुनियादी मूल्यों को एक व्यवस्था देता है। कविता और विचारधारा के संबंध को हम पहले लेंगे, फिर कविता और दर्शन की अंतर क्रिया पर विचार होगा। निराला की संदर्भित कविता में बाहर विचारधारा है जिसके प्रति रचनाकार से प्रतिबद्धता की माँग की जाती थी, जिस का हवाला इको ने अपनी कथा-कृति की भूमिका में दिया है, भीतर निष्ठा है जिसे कवि ने स्वयं आविष्कृत और उपलब्ध किया है। कवि ने इन के लिए बिंब-युग्म दिए हैं—एक ओर गलती हुई बर्फ़ के टुकड़े और नीचे बहते पानी का अनवरत प्रवाह, दूसरी ओर वृक्ष का सख़्त तना और उस पर खिली नर्म कली। बर्फ़ और तना ठोस निमित्त हैं, पर रचनात्मक गतिशीलता जल-प्रवाह और कली में है। मिट्टी और खाद से लेकर वृक्ष के तने तक बाह्य निमित्त-माला है, अंदर की प्रक्रिया के एक सिरे पर निष्ठा का बीज है दूसरी ओर कली की रचना। विचारधारा बाहर के तंत्र जुड़ी है निष्ठा रचनाकार के संस्कार से, जो इस प्रसंग में मूल कारण है। इसीलिए बाहर की प्रतिबद्धता के तर्क से उपेक्षित होकर भी निराला भीतर की संपन्नता अनुभव करके आह्लादित दिखते हैं। कविता के अंत में फिर बाहर-भीतर की द्वन्द्व-प्रक्रिया का उल्लेख करके कवि जैसे स्वयं उसका द्रष्टा बन जाता है, और इस द्रष्टा बनने में नश्वरता से ऊपर उठ कर अनश्वर हो जाता है—

भीतर, बाहर; बाहर, भीतर; देखा जब से, हुआ अनश्वर

अनश्वरता की यह अनुभूति बहुत कुछ वैसी है जैसी कवि के एक अन्य प्रसिद्ध गीत 'स्नेह-निर्झर' में मिलती है—

पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल—

ठाट जीवन का वही

जो ढह गया है।

भीतर जो पल्लवन और रचना का क्षण है वह तो आधार है और अनश्वर है, जो ढहता दिखता है वस्तुतः वह बाहर बाँधा गया भौतिक

ठाट है, अधिरचना है। मार्क्स को जैसे निराला ने फिर सीधा करके खड़ा कर दिया हो।

बहुत-कुछ ऐसे ही अज्ञेय की 'सरस्वती-पुत्र' कविता में सरस्वती-मंदिर पर जो कब्ज़ा किए बैठे हैं वे हैं प्रगल्भ, शोर मचा कर राम-नाम जपने वाले, अर्थहीन जल्पक, और जो सरस्वती-पुत्र है उसे बाहर किया हुआ है। जो प्रतिबद्ध हैं वे 'बाहर जितने बच्चे उतने ही बड़बोले' हैं, और जो सरस्वती-पुत्र वह, 'दिन-दिन होता जाता वयस्क' है। यह बाहर-भीतर का अंतर परिवेशगत अधिक है, एक दूसरे स्तर पर बाहर-भीतर है जो रचना-कर्म की बनावट में है और जिसका अपेक्षया विस्तार से चित्रण हुआ है अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' के अंतर्गत।

'अँधेरे में' और 'असाध्य वीणा' नयी कविता की इन दोनों लंबी कविताओं में रचना-शक्ति की खोज का आख्यान है। दोनों अपने-अपने रचनाकारों की शीर्ष रचनाएँ कही जा सकती हैं; समकालीन आलोचना में इसी रूप में उनकी पहिचान भी बनी है। इस दृष्टि से दोनों कविताओं को समझने के क्रम में हम उन के रचनाकार के वैशिष्ट्य और अलगाव दोनों को काफी दूर तक समझ सकते हैं। एक में समूचा बिंब-विधान लिया गया है कविता और कवि-जीवन से, दूसरे में संगीत से। 'अँधेरे में' के लंबे खंडों में कवि की समस्या है समाज के उत्थान-पतन और आंदोलनों के बीच अपनी रचना के प्रेरक तत्त्वों का अभिज्ञान और उनकी बनावट की पहिचान: रचना कैसे बाहर से अंदर आती है, और फिर कैसे बाहर दूर-दूर तक परिव्याप्त हो जाती है। कविता का समापन अंश हर ईमानदार कवि का अंतिम वक्तव्य और साक्ष्य हो सकता है—

खोजता हूँ पठार·········पहाड़·········समुंदर

जहाँ मिल सके मुझे

मेरी यह खोयी हुई

परम अभिव्यक्ति अनिवार

आत्म-सम्भवा।

अंतर, जैसा कहा गया, दोनों कविताओं के बिंब-विधान को लेकर उभरता है: 'असाध्य वीणा' में केन्द्रीय बिंब संगीत के क्षेत्र का है जहाँ अनुभूति के रचाव पर विशेष बल है, 'अँधेरे में' का केन्द्रीय बिंब लेखन-कार्य से जुड़ा है। 'असाध्य वीणा' के अँधेरे में संगीतकार की सृजन-प्रक्रिया अनुभूति के तईं अपने को समर्पित करने में है ('सघन निविड़ में वह अपने को/सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को') जब कि 'अँधेरे में' के नायक के लेखन-कार्य में वैचारिकता के विविध द्वन्द्व हैं। एक का प्रभाव उस के 'सन्धीत' होने में है, दूसरे का उस के फैलाव में। अपने विधान में ये दोनों कविताएँ परस्पर पूरक ढंग से एक बढ़िया युग्म उपस्थित करती हैं।

दोनों कविताओं में वस्तु और विधान ही नहीं उनके शीर्षक भी सर्जन-प्रक्रिया के अन्वेषण को संकेतित करते हैं, और कुल मिलाकर वहाँ भीतर तथा बाहर या कि निष्ठा और प्रतिबद्धता के आवश्यक संदर्भ उकेरते हैं। यहाँ रोचक तथ्य यह है कि अँधेरा दोनों कविताओं में सृजन के आवश्यक परिवेश और पार्श्वभूमि रूप में चित्रित हुआ है। मुक्तिबोध की कविता की तो व्यापक पट-भूमि ही अँधेरे में निर्मित है, 'असाध्य वीणा' को साधने के क्रम में कलाकार केशकंबली भी अपने को 'सघन निविड़' में उतारता है। भीतर और बाहर की अंतर-क्रिया इन दोनों लंबी कविताओं में रचनात्मकता का उत्स है। 'असाध्य वीणा' के लंबे खंड में साक्षात्कार-प्रक्रिया के जो विविध रूप अंकित हुए हैं 'अन्न की सौंधी खुदबुद' से लेकर 'प्रलय का डमरु-नाद' तक उन्हें मुक्तिबोध 'हर गली में', 'हर सड़क पर', 'हर एक चेहरा' झाँक-झाँक देखते हैं कि कहीं वह 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' मिल जाय। 'असाध्य वीणा' में संगीत के साक्षात्कार संबंधी चित्रों का वैविध्य पहले अंकित कलाकार के अपने जीवनानुभव के वैविध्य से तुलनीय है—

> **"हाँ मुझे स्मरण है:**
>
> **बदली-कौंध पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पट-पट।**
>
> **घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना।**
>
> **चौंके खग-शावक की चिहुँक।**

शिलाओं के दुलराते पन झरनों के

द्रुत लहरीले जल का कल निनाद।

कुहरे में छनकर आती

पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।

पर निराला की तरह यहाँ भी भीतर और बाहर की टकराहट में गुणात्मक महत्त्व दोनों कविताओं में भीतर का ही ठहरता है। मुक्तिबोध कविता की अंतिम पंक्ति में अपनी 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' को समाज की हर टकराहट के बाद और बावजूद 'आत्म-सम्भवा' क़हते हैं। इस अंतिम अंश की तुलना 'असाध्य वीणा' के समापन-अंश से करने योग्य है, जहाँ कलाकार अपनी सृजन-प्रक्रिया का रहस्य समझाता है—

"श्रेय नहीं कुछ मेरा:

मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—

वीणा के माध्यम से अपने को मैंने

सब कुछ को सौंप दिया था—

सुना आपने जो वह मेरा नहीं,

न वीणा का था:

वह तो सब कुछ की तथता थी—

महाशून्य

वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय

जो शब्दहीन

सब में गाता है।"

मुक्तिबोध की 'परम अभिव्यक्ति/ लगातार घूमती है जग में;' फिर भी है 'आत्म-सम्भवा', अज्ञेय के लिए वही 'सब कुछ की तथता', 'अविभाज्य' और 'अनाप्त' हो जाती है। जो 'अनाप्त' है वही 'आत्म-सम्भवा' हो सकती है। यों दोनों कविताओं में वर्णित सृजन-प्रक्रिया संपन्न एक बिंदु

पर होती है, जहाँ बाहर-भीतर की टकराहट में महत्त्व भीतर का स्थापित हुआ है और जहाँ प्रतिबद्धता है तो भीतर की निष्ठा के ही प्रति। सृजन-प्रक्रिया को वस्तु-रूप में लेकर चलनेवाली ये कविताएँ तब अनायास दोनों कवियों का साझा काव्यशास्त्र बन जाती हैं।

यह कवियों का काव्यशास्त्र है कविता में, जो उन के दृष्टिकोण के तौर पर सब से अधिक विश्वसनीय है। फिर कवियों-रचनाकारों के अपने वक्तव्य हैं समकालीन विचारधारा के प्रसंग में। विचारधारा की व्यावहारिक परिणति आधुनिक संदर्भ में राजनीति है। अब तक के साम्यवादी क्षेत्रों में तो विचारधारा राजनीति का ही कूटनाम रहा। यों इस प्रसंग में हिंदी लेखक का राजनीति के प्रति सामान्य रवैया क्या रहा है, इस पर कुछ विवेचन यहाँ उपयोगी होगा। मध्यकाल में संत-भक्त कवियों का राजनीति के प्रति क्या-कुछ दृष्टिकोण था इस का एक संकेत 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास की इस उक्ति में मिलता है—

संतन को कहा सीकरी सौं काम?

आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।

यहाँ 'सीकरी' स्पष्ट ही समकालीन राजनीति और राजसत्ता दोनों के लिए संपृक्त प्रतीक है। 'संतन' और 'सीकरी' का जैसा गंभीर वैषम्य पद की पहली पंक्ति में रेखांकित हुआ है, उस तुलना में ख़ासा रोचक वैषम्य पनहियाँ टूटने और हरि नाम के बिसरने के बीच आगे है। ये दोनों वैषम्य एक दूसरे के आमने-सामने आकर कवि की राजनीति के प्रति वितृष्णा को रूपायित करते हैं।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि संतों-भक्तों के पूर्व वीरगाथा काल के चारण कवि या कि बाद में रीति काल के दरबारी कवि अधिकतर समकालीन राजाओं के आश्रय में रहे, पर उन के लिए केन्द्रीय समस्या व्यक्तिगत आजीविका की थी किसी व्यापक राजनीति की नहीं। इन कवियों में से कुछ ने अपने आश्रयदाता की निर्भीक आलोचना भी की, पर अधिकतर स्पष्ट ही उनके गुण-गान में लगे रहे। कुल मिलाकर मध्यकालीन संदर्भ में राजनीति का वह व्यापक रूप नहीं जैसा कि आज है, जो कि इस शब्द से अब वस्तुतः अभिप्रेत है। राजनीति की इस

वास्तविक सत्ता को लेकर आधुनिक लेखक का रवैया असल में महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में आधुनिक हिंदी के तीन शीर्ष लेखकों के मंतव्य यहाँ उद्धृत हैं—

"वह (अर्थात् साहित्यकार) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उन के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"

(प्रेमचंद: प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति पद से दिया हुआ अभिभाषण: १९३६)

"टंडन जी (पुरुषोत्तमदास टंडन) का पारा बहुत चढ़ गया था। एक तो राजनीति और साहित्य के विवेचन में ही घिसट-घिसट कर रह गए थे, और चूँकि खुद राजनीतिक थे इसलिए राजनीति को प्रधान बनाया था। मैंने सोचा कि एक नीति और पेश की जाए तो इसे टंडन जी कहाँ स्थान देते हैं, देखूँ। मैंने कहा, 'फिर धर्म-शास्त्र को कहाँ जगह मिलेगी?' याद रहे, धर्म-शास्त्र को मैंने इसलिए पेश किया कि टंडन जी ने साहित्य के वृहत् अर्थ में साहित्य को नहीं लिया, वरन् साहित्य को राजनीति से भिन्न करके नीची जगह दी थी। टंडन जी ने धर्मशास्त्र के लिए भी एक तीसरी जगह तैयार की और क्रम ऐसा रहा, जैसे सर हो राजनीति, हृदय धर्मशास्त्र और उपस्थ साहित्य।" (सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला': 'प्रांतीय साहित्य सम्मेलन, फ़ैजाबाद'-१९३८)

"मैं हैरान होकर हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति (महात्मा गांधी) को देखता रहा, जो राजनीतिक रूप से देश के नेताओं को रास्ता बतलाता है, बेमतलब पहरों तकली चलाता है, प्रार्थना में मुर्दे गाने सुनता है, हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति है, लेकिन हिंदी के कवि को आधा घंटा वक्त नहीं देता—अपरिणामदर्शी की तरह जो जी में आता है, खुली सभा में कह जाता है, सामने बगलें झाँकता है।" (निराला: 'गांधीजी से बातचीत'—१९३९)

"कहने का तात्पर्य यह कि हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ा कर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य

को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उस के इशारों पर ही न नाचना चाहिए।" (रामचंद्र शुक्ल, गद्य साहित्य की वर्तमान गति— 'हिंदी साहित्य का इतिहास'—१९४०)

एक ही काल-खंड (१९३६-१९४०) में सक्रिय इन हिंदी लेखकों के कई तरह के वैचारिक मत-भेद रहे हैं, पर राजनीति, राजनीतिक और राजनीतिक दलों के संबंध में उनका यह मत-साम्य विलक्षण है—वे सभी रचना और रचनाकार को राजनीति तथा राजनीतिक के ऊपर स्पष्ट महत्त्व देते हैं, संदर्भ चाहे विदेशी जननायक लेनिन का हो, चाहे राष्ट्रीय नेता राजर्षि पुरुषोत्तम टंडन का या कि स्वयं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का। लेनिन के प्रसंग में चर्चा हम कुछ बाद में करेंगे।

आगे फिर समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर अर्द्ध शताब्दी के आस-पास से साहित्य की स्वायत्तता बनाम पक्षधरता पर लंबी और तीखी बहस चलती है, जिस में एक ओर वे तरुण लेखक थे जो अधिकतर उन्मुक्त 'परिमल' गोष्ठी (आरंभ १९४४) से संबद्ध थे, दूसरी ओर प्रगतिशील लेखक संघ (स्थापित १९३६) के विधिवत् नामांकित सदस्य। इस समूची बहस का रोचक पहलू यह था कि प्रेमचंद या निराला के जिन विचारों को पहले उद्धृत किया गया—जिनके अनुसार साहित्य का स्थान राजनीति से ऊपर है—उन का समर्थन परिमल बंधु कर रहे थे, जब कि इन विचारों के एकदम विरोधी, साहित्य को सब से पहले और मूलतः पक्षधर मानने वाले प्रगतिशील लेखक अपने आप को प्रेमचंद-निराला-रामचंद्र शुक्ल का उत्तराधिकारी होने का दावा करते थे। यह अंतविर्रोध अपने में ही इस बहस के विजयी पक्ष को स्पष्ट कर देता है।

फिर १९९० के आसपास 'विचारधारा' के मूल संस्थान सोवियत संघ के पराभव के साथ स्वायत्तता बनाम पक्षधरता की बहस फिर से समकालीन लेखन के केन्द्र में आ गई। प्रस्तुत लेखक का निबंध 'आलोचना की मुक्ति', ('पूर्वग्रह'—शतांक) तथा 'समास'—1 (1992) में प्रकाशित विस्तृत परिसंवाद इस नवीनतम वैचारिक स्थिति का अच्छा निदर्शन है। इस परिसंवाद में से दो नये कवियों के मंतव्य यहाँ प्रस्तुत हैं—

"एक बड़ा साहित्य विभिन्न विचारों की वैधता के लिए खुद प्रमाण होता है, अपनी प्रामाणिकता का आधार दूसरे विचारों या किसी विचारधारा को नहीं बनाता। शेक्सपियर या कबीर या तुलसीदास का साहित्य किसी एक विचार का पुष्टीकरण नहीं है: वह पूरे जीवन की सचाई है जिस से किसी विचार की वैधता सिद्ध होती है।" (कुँवरनारायण—'साहित्य और विचार' : 'समास'–१)

"हाल ही में हमने साहित्येतर विचारों और उनकी तकनालॉजियों की भयानक और अमानवीय परिणतियाँ देखी हैं। उनके इस हश्र के बाद अब यह मुकाम आ गया लगता है कि हम साहित्य की अपनी वैचारिक स्वायत्तता, उसके वैचारिक स्वराज पर ध्यान दें।" (अशोक वाजपेयी–'सीढ़ियाँ शुरू हो गई हैं' : 'समास'–१)

इस समूचे विवेचन का उद्देश्य यह दिखाना है कि इस प्रसंग में कवि-रचनाकार का अपना पक्ष क्या है, वह स्वयं राजनीति या कि विचारधारा से कैसे बरतना चाहता है। हिंदी में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं रही जो अपने को रचनाकार का स्वयंनियुक्त अभिवक्ता मानते हैं, और बड़े विस्तार में बताते हैं कि उनके अनुसार, अमुक रचनाकार का रवैया राजनीति या विचारधारा के प्रति क्या है। वे आलोचक स्वयं इस संदर्भ में क्या मानते हैं, इसकी व्याख्या स्पष्ट ही उन के आलोचना-कर्म का आवश्यक अंग है, ख़तरा वहाँ आता है जब वे प्रेमचंद-निराला-रामचंद्र शुक्ल या अन्य रचनाकारों की ओर से भी बताने लगते हैं कि उन लेखकों का यहाँ क्या दृष्टिकोण है संबद्ध रचनाकारों की अपनी दृष्टि की पूरी तरह अवज्ञा करते हुए। वे भूल जाते हैं कि ये बड़े रचनाकार उन के द्वारा किए गए पक्ष-निर्देश में अँट नहीं पाते, और उन की आलोचना यों रचना तथा रचनाकार की सहानुभूति से विलग हो जाती है।

कविता और दर्शन का संबंध साहित्य-चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। कई संदर्भों में कविता और दर्शन के अभेद की बात कही गई है। उपनिषदों और गीता का इस प्रसंग में प्रायः उल्लेख होता है। उपनिषदों के ऋषि मंत्रद्रष्टा और कवि दोनों कहे गए। कवि, मंत्रद्रष्टा या कि दार्शनिक की यह आरंभिक मिली-जुली भूमिका आगे चल कर क्रमशः अलग-अलग हो जाती है। रहस्य की भाव-भूमि में विशेषतः,

कविता और दर्शन एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं। फिर जैसे-जैसे अनुभव विविक्त होते हैं वैसे-वैसे कविता और दर्शन एक दूसरे से विशिष्ट होने लगते हैं। किसी क़दर यह भी कह सकते हैं कि ज्यों-ज्यों भाषा का रूप विशिष्ट होता गया है त्यों-त्यों अनुभव भी विविक्त होते गए हैं, तथा कविता और दर्शन की अपनी-अपनी विशिष्टता बढ़ती गई है। ये विविक्त अनुभव क्रमशः सूक्ष्म-संश्लिष्ट-जटिल होते जाते हैं। इन की फिर वैसी ही विविक्त पहिचान बनाए रख कर उनके बीच संबंध-सूत्र तलाशना कविता का दायित्व है। कविता और दर्शन के बीच एक सामान्य और स्पष्ट अंतर जो बताया जाता है यह है कि कविता का उपादान अनुभूति है, दर्शन का विचार। फिर कवि के सामने बराबर यह समस्या रही है कि कैसे विचार को गला कर अनुभूति में ढाले, जब कि दार्शनिक अपनी अनुभूति को विचार के रूप में व्यवस्थित करता है।

यों कविता और दर्शन का संबंध आरंभ से घनिष्टता का रहा है। तब यह भी स्पष्ट करना होगा कि एक सीमा के बाद दर्शन कविता का शत्रु हो जाता है, जब कि दार्शनिक अनुभूति कविता को आयु प्रदान करती है। विष और ओषधि जैसा यह अंतर है मात्रा और प्रयोग का। यशस्वी रचनाओं के उत्तरार्द्ध में कई बार दर्शन छाया हुआ दिखता है, जैसे रामचरितमानस का उत्तरकांड, 'कामायनी' के अंतिम तीन सर्ग दर्शन, रहस्य और आनंद, सुमित्रानंदन पंत की 'एक तारा' या कि 'नौका विहार' के उत्तर अंश, अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' का समापन भाग। यहाँ दर्शन अभिव्यक्त न होकर सीधे-सीधे कह दिया गया है, जब कि अज्ञेय ने स्वयं बताया है—"मैं सच लिखता हूँ: लिख-लिख कर सब/झूठा करता जाता हूँ" या कि लॉरेंस डरैल को याद करें "बताने की प्रक्रिया में सत्य विलुप्त हो जाता है।" पर इन रचनाओं का काव्य-प्रयत्न ऐसा बड़ा है और विधान इतना व्यवस्थित कि यह दर्शन समूचे काव्य से आलोकित होकर उस विधान का अंग बन जाता है। कई बार रचना का उत्तर भाग पूर्व-प्रभावी ढंग से समूची रचना को दीप्त कर उठता है, और कई बार पूर्व भाग के काव्य प्रयत्न में उत्तर भाग का दर्शन विलीन हो जाता है। कुल मिलाकर रचना फिर समरस और एकरूप होती है, यही उस का वैशिष्ट्य है। सुमित्रानंदन पंत की कविता से समूचे छायावाद की

पहिचान बनी थी; पर वही कविता धीरे-धीरे कवि के बढ़ते दार्शनिक आग्रह के बीच अपनी ही पहिचान खो बैठी, जैसे कि इस के विपरीत उन के कनिष्ठ कवि बच्चन की कविता उत्तरोत्तर अगंभीर होती गई। हिंदी कविता के इतिहास का यह एक दुखद प्रसंग है कि आधुनिक काल के इन दोनों कवियों के विस्तृत उत्तर काव्य का फीकापन उन के पूर्वार्द्ध के आलोक में फिर चमक नहीं सका। कविता लिखना तो अपने में मुश्किल है ही, कविता लिखते रहना उस से भी मुश्किल। दर्शन का आग्रह यदि एक तरह का ख़तरा है तो उस की अवज्ञा एक दूसरी तरह का।

पंत में कविता और दर्शन को मिलाने की प्रवृत्ति रचना-काल के आरंभ से ही देखी जा सकती है। १९३२ में लिखित उन की दो प्रसिद्ध कविताएँ 'एक तारा' और 'नौका विहार' उदाहरण के तौर पर ली जा सकती हैं। दोनों कविताओं के पूर्वार्द्ध में कविता है, उत्तरार्द्ध में दर्शन—फाँक की स्थिति साफ़ दिखाई देती है। 'एक तारा' में विभाजक रेखा आती है इस पंक्ति पर

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,

वह निष्फल इच्छा से निर्धन!

इसके पहले कविता के पूर्वार्द्ध में छायावाद का श्रेष्ठतम बिंब-विधान और प्रकृति-चित्रण है—'गंगा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल/ है मूँद चुका अपने मृदु दल।' उत्तरार्द्ध में इस परिवेश में चित्रित अकेले उदित शुक्र तारे की स्थिति का दार्शनिक औचित्य दिखाया गया है। कविता की लय, बिंब-विधान और अनुभूति-प्रवणता सब कुछ यहाँ बदला हुआ है। पूर्वार्द्ध में प्रकृति-चित्रण, उत्तरार्द्ध में दार्शनिक विवेचन—यह विभाजन साफ़ दिखाई देता है, जिस के कारण समूची कविता का संश्लिष्ट विधान आहत होता है। ठीक ऐसी ही स्थिति 'नौका विहार' की है, जहाँ विभाजक पंक्ति है—'छाया की कोकी को विलोक'। यहाँ से कविता में नौका ही नहीं घूमी, मानो कविता का पूरा प्रवाह उलट जाता है दर्शन के आवेग से, और कविता समरस नहीं रह पाती।

उपर्युक्त उद्धरणों के विवेचन में कविता और दर्शन का संबंध नहीं, उनका अंतर अधिक प्रकट होता है। कविता में जीवन की प्रक्रिया का अंकन है, उसकी पुनर्रचना है, दर्शन में जीवन की निष्पत्ति का दर्शन। प्रक्रिया और निष्पत्ति का यह अंतर आचार्य शुक्ल की शब्दावली में, अवश्य ही एक भिन्न स्तर पर, 'साधनावस्था' और 'सिद्धावस्था' के बीच का अंतर है। यह फ़रक चित्रण संभव होता है अलग-अलग तरह की भाषा-प्रयोग-विधि में। दर्शन की भाषा निश्चित और चौकस अर्थ की भाषा है और पारिभाषिक शब्दावली का सहारा लेती है, कविता की भाषा अर्थ वैविध्य और अर्थ सघनता की है, जहाँ अधिकतर शब्दों की अर्थ-छायाएँ कवि स्वयं सिरजना चाहता है। एक भाषा व्यवस्था में बंद है, दूसरी अपने नवाचार में खुली हुई।

दर्शन से जुड़े वाद, संप्रदाय को साहित्य के प्रसंग में हिंदी के शीर्ष आलोचकों ने बराबर निरुत्साहित किया है वैसे ही जैसे रचनाकारों ने विचारधारा को। कवि सूरदास की विस्तृत आलोचना करते हुए रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, "इस संबंध में हमारा केवल यही निवेदन है कि सांप्रदायिक परिभाषाओं के चक्कर में साहित्यिक दृष्टि खो न देना चाहिए।" ('सूरदास'-पृ० १४८) सैद्धांतिक विवेचन के प्रसंग में उन्होंने अपना मत और स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है। 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शीर्षक अपने प्रसिद्ध निबंध में किंचित् व्यंग की मुद्रा में आचार्य कहते हैं, "काव्य क्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उस की सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिख कर 'वाद' लिखने लगते हैं।" हिंदी के दूसरे आचार्य आलोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी बहुत कुछ इसी स्वर में अपना मंतव्य प्रकट करते हैं, "फिर भी संप्रदाय-प्रतिष्ठा का अभिशाप यह है कि उस के भीतर रहने वाले की स्वाधीन चिंता कम हो जाती है। संप्रदाय की प्रतिष्ठा ही जब सब से बड़ा लक्ष्य हो जाता है तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है।" ('घर जोड़ने की माया') विचारधारा, मतवाद और संप्रदाय के संबंध में ऐसा खरा दृष्टिकोण कहीं उस हिंदू मानसिकता से जुड़ा हुआ है जो अपने को किसी एक धर्म ग्रंथ, किसी विशिष्ट अवतार या कि देवता से बाँध कर नहीं रखती, और सत्य की खोज में किसी मताग्रह को आड़े नहीं आने

देती। यही कारण है कि वहाँ दर्शनशास्त्र या धर्मशास्त्र का तो विकास हुआ पर धर्मविज्ञान या 'थियॉलॉजी' का नहीं। और साहित्य-रचना को तो उनके भी अनुशासन से मुक्त रखा गया। कवि यहाँ सच्चे अर्थों में प्रजापति है, आत्मशास्ता।

विचित्र विडंबना यह है कि एक परंपरा में कवि-रचनाकार को प्रजापति की संज्ञा दी गई, वहीं दूसरी परंपरा में विकसित सर्वसत्तावादी व्यवस्था के दबाव में कवि को पार्टी निर्देश के अनुकूल लिखने को कहा गया। यह उचित होगा कि इस विचारधारा और उस के दृष्टिकोण को भी सोदाहरण स्पष्ट किया जाए। यहाँ स्मरणीय है कि साम्यवादी विचारकों में मार्क्स का रुख़ लेखकों के प्रसंग में वैसा कठोर नहीं है जैसा कि लेनिन का। आलोचक रामचंद्र शुक्ल को इस बात का भी श्रेय देना होगा कि सोवियत क्रांति के पहले दशक में ही उन्होंने लेनिन के आचरण की उग्रता को पहिचान लिया था, और तब जब कि संचार के साधन आज जैसे तीव्र नहीं थे और नयी-नयी बनी सोवियत राज्य-व्यवस्था को कड़ाई के साथ परदे में रखा गया था। १९२३ ई० में पहली बार प्रकाशित अपने ग्रंथ 'गोस्वामी तुलसीदास' के 'लोकनीति और मर्यादावाद' खंड में विलक्षण व्यंग की मुद्रा में वे लिखते हैं "ऊँची श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिस से लाभ उठा कर लेनिन अपने समय में महात्मा बना रहा······जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उस में गुण, शील, कला कौशल, बल, बुद्धि के असामान्य उत्कर्ष की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नहीं रहेगा। रूस से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है।"

साहित्य के प्रसंग में मार्क्स और लेनिन की प्रसिद्ध उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "लेखक को जीवित बने रहने और लिखने के लिए स्वभावतः जीविका चलानी ही है, पर उसे महज़ जीविका के लिए जीवित बने रहना और लिखना कदापि नहीं चाहिए······लेख़क अपनी रचनाओं

को कभी साधन नहीं मान पाता। वे स्वयं में साध्य हैं।'' (कार्ल मार्क्स: 'लेखकीय जीवन')

''साहित्य को निश्चय ही पक्षधर साहित्य होना चाहिए। बोर्जुआ रीति-रिवाज़ों, व्यावसायिक बोर्जुआ प्रेस, बोर्जुआ साहित्यिक अवसरवादिता और स्वार्थपरता, 'भद्र अराजकता' और लाभ-वृत्ति, इन सब को नष्ट करने के लिए समाजवादी सर्वहारा वर्ग को पक्षधर साहित्य के सिद्धांत को आगे लाना चाहिए, और इसे संवर्द्धित करके एकदम पूरी तरह से अत्यंत सघन रूप में कार्य रूप में परिणत करना चाहिए।'' (लेनिन: 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य')

इन दोनों उद्धरणों की तुलना से स्पष्ट है कि लेखकीय जीवन और साहित्य के संबंध में मार्क्स का दृष्टिकोण उदार और सहज था। उस के उत्तराधिकारी उत्तरोत्तर संकीर्ण विचारधारा के होते गए। मार्क्स की दृष्टि में रचना साध्य है, लेनिन के लिए महज़ साधन। दोनों दृष्टियों के बीच बुनियादी और बड़ा फ़र्क है। साहित्य की पक्षधरता का सिद्धांत लेनिन ने चलाया और बड़े उग्र रूप में, जैसा कि सुदूर भारत में बैठे आलोचक रामचंद्र शुक्ल तभी लक्षित कर रहे थे। साम्यवादी विचार-क्षेत्र और व्यवस्था-तंत्र में चिंतक मार्क्स का नहीं, कर्मठ लेनिन का दृष्टिकोण स्वीकृत हुआ। इस से उस की विचारधारा और व्यवस्था को कुछ थोड़ा-बहुत लाभ हुआ हो, पर साहित्य का तो ह्रास ही हुआ, जहाँ-जहाँ उक्त सिद्धांत को बलपूर्वक कार्य रूप में परिणत किया गया। पर आधुनिक हिंदी के शीर्षस्थ कवि, कथाकार और आलोचक—निराला, प्रेमचंद और रामचंद्र शुक्ल को यह दृष्टिकोण एकदम अस्वीकार्य रहा, यह विस्तार से विवेचन पहले किया जा चुका है। इसकी अनदेखी करने में क्या नामवरी है, कहना कठिन है।

विचारधारा की वकालत राजनीति की ओर से आती है तो दर्शन की अध्यात्म के क्षेत्र से। कविता का पक्ष दोनों स्थितियों में कमज़ोर होता है। इस प्रसंग में श्री अरविंद का उल्लेख विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, जिनका कविता में दर्शन की स्थिति का विवेचन अत्यंत संतुलित है, पर स्वयं अपने कवि-कर्म में वे उस संतुलन का कितना निर्वाह कर सके हैं, यह विवाद का विषय हो सकता है। कविता में दर्शन का कितना

और क्या प्रयोजन है, इस का बहुत सीधा और सारगर्भित विवेचन उन के कई पत्रों में हुआ है जो उन्होंने अपने कवि-शिष्यों की जिज्ञासाओं के समाधान के लिए लिखे हैं।

'कविता में दर्शन' की स्थिति पर सीधे टिप्पणी करते हुए, संभवतः किसी समाचार-पत्र में १९३१ में प्रकाशित आलेख पर श्री अरविंद, अपनी प्रतिक्रिया यों व्यक्त करते हैं, ''कविता में दर्शन' से आप के संवाददाता का अभिप्राय है क्या? निश्चय ही यदि कोई अतिभौतिक तर्क को छंद में ढाल दे यूनानी एम्पीडोक्लस या कि रोमन लूक्रिटियस की तरह तो यह एक जोखिम का व्यापार है और संभावना है कि यह तुम्हें गद्यात्मक कविता में ले जाए जो मिश्रण काव्यात्मक गद्य से तो कम क्षम्य है। कुछ कम ख़तरनाक ढंग से दर्शनपरक होने में भी यह चिंता रखनी होगी कि सपाट या भारी न हो जाएँ। स्पष्ट ही आकाशचारी पक्षी के गाने में काव्यात्मक होना आसान है उस स्थिति की तुलना में जब कि आप ब्रह्म के तत्त्व को छंद के वस्त्र में आच्छादित कर रहे हों। पर इस का अर्थ यह नहीं कि कविता में विचार या आध्यात्मिक विचार या सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है, और कोई ऐसा बड़ा कवि नहीं हुआ जिसने दर्शनपरक होने का यत्न न किया हो।'' १९४६ के एक पत्र में वे फिर लिखते हैं, ''एक और प्रश्न है कविता में दर्शन के स्थान का या कि उस का कोई स्थान है भी। कुछ रोमांटिकों का विचार लगता है कि कवि को सोचने का कोई अधिकार ही नहीं, सिर्फ़ देखने और अनुभव करने का है। मेरी मान्यता है कि दर्शन का अपना स्थान है, यही नहीं मनोवैज्ञानिक अनुभव के साथ वह अग्रणी हो सकता है जैसी कि स्थिति गीता में है। निर्भर इस पर करता है कि वह होता कैसे है, वह सूखा या कि जीवंत दर्शन है, एक रूखा बौद्धिक वक्तव्य है अथवा विचार के जीवंत सत्य की अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि उसके किसी सौंदर्य, प्रकाश या शक्ति की अभिव्यक्ति है।''

श्री अरविंद की उपर्युक्त मान्यताएँ निश्चय ही अत्यंत युक्तियुक्त, और दर्शन की सापेक्षता में कविता की स्वायत्तता के पक्ष में हैं। फिर भी व्यवहार में अरविंद का झुकाव काव्यादर्श के तौर पर गीता की ओर है, जहाँ दर्शन कविता पर बराबर भारी पड़ता है। श्री अरविंद की कविता

और विशेषतः उन का प्रख्यात महाकाव्य 'सावित्री' इसी रास्ते पर चलते दिखते हैं। श्री अरविंद की पत्रावली (कविता और साहित्य पर) के संपादक ने अपने आमुख का समापन करते हुए निष्कर्ष रूप में जो टिप्पणी दी है वह स्वयं अरविंद-काव्य और विशेषतः कवि की शीर्ष कृति 'सावित्री' महाकाव्य की प्रकृति का बहुत अच्छी तरह वर्णन कर देती है। १९४९ ई० में लिखित और प्रकाशित इस आमुख का अंतिम अंश इस प्रकार है, "ये पत्र उन के लिए विशेष तौर पर सहायक होंगे जो आध्यात्मिक और रहस्यपरक काव्य लिखने का यत्न कर रहे हैं, क्योंकि यहाँ श्री अरविंद न केवल सर्वोच्च गुरु और स्वामी स्वयं हैं, वरन् उन सब का नेतृत्व तथा निर्देशन करते हैं जो असीम आध्यात्मिक काव्य के अंतहीन क्षेत्रों का अवगाहन करना चाहते हैं।" यह संपादकीय टिप्पणी बड़े सलीके से स्पष्ट करती है कि श्री अरविंद का रचना-क्षेत्र सामान्य काव्य का न होकर आध्यात्मिक काव्य का है, जहाँ वे साधक और कवि की संपृक्त भूमिका का निर्वाह करते हैं।

कविता में विचारधारा और दर्शन को महत्त्व देने वाले आलोचक और विचारक यह नहीं मानना चाहते कि कवि बौद्धिक रूप से वयस्क है, और उसकी भी अपनी विश्व-दृष्टि हो सकती है, होती है। निराला ने अपने युग में 'कविता की मुक्ति' की बात बलपूर्वक कही थी और उसे व्यवहार में निदर्शित भी किया था। मैं समझता हूँ आलोचना की मुक्ति की बात उसी से जुड़ी हुई है। 'कविता की मुक्ति' को निराला ने 'मनुष्य की मुक्ति' के वृहत्तर सवाल से जोड़ कर देखा था, उन की जो इस शती के आरंभिक दशकों की आकांक्षा अब शती के पूरा होते-होते एशिया, अफ्रीका और पूर्वी यूरोप के देशों में क्रमशः चरितार्थ हुई दिखती है। जीवन, रचना और आलोचना के विकास-क्रम में 'आलोचना की मुक्ति' 'कविता की मुक्ति' से सहज जुड़ जाती है। कविता मुक्त हो, और आलोचना लक्षण-सिद्धांत-प्रतिमान में बद्ध यह बड़ी अटपटी और इतिहास-विरुद्ध बात होगी। तब साहित्य-चिंतन की नयी दिशा आलोचना की मुक्ति है।

रचना और इतिहास की अंतर-क्रिया में से साहित्यिक मूल्य विकसित होते हैं, जिनके आधार पर हम इतिहास और रचना दोनों का मूल्यांकन

करते चलते हैं, साथ ही यह चिंता रखते हैं कि ये गतिशील मूल्य कहीं स्थिर नियमों या प्रतिमानों में न बदल जाएँ! उदाहरण के लिए आचार्य शुक्ल के साहित्य-चिंतन को लिया जा सकता है जिन्होंने न कोई काव्य-लक्षण या सिद्धांत बनाए और न कोई प्रतिमान निर्धारित किए। प्राचीन शास्त्रीय 'लक्षण-सिद्धांत' फिर भी रचना से जुड़ कर बने हैं, जब कि 'नये प्रतिमान' बहुत बार रचना के बाहर के क्षेत्रों से आते हैं। पक्षधर दृष्टिकोण में रचनाकार अवयस्क माना जाता है कि वह इतिहास, दर्शन या राजनीति से अपना प्रतिमान लेने को बाध्य है। लेखक तब अनिवार्यतः गांधीवादी या मार्क्सवादी या अरविंदवादी होने के लिए विवश है, यानी उसमें स्वयं ऐसी क्षमता नहीं कि वह अपने मूल्य युग से टकरा कर अपने ढंग से विकसित कर सके। ऐसी आलोचना में महत्त्व सूर, तुलसी, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद का नहीं, महत्त्व है वल्लभाचार्य का, रामानंद का, शैवागम का या कि गांधी, फ्रॉयड और मार्क्स का। रचनाकार को विचारधारा के तौर पर कुछ दिया हुआ है, जिसको उसे रचना में रूपांतरित कर देना है। लेखक की अपनी कोई दृष्टि हो सकती है, यह छूट इस विचारधारा के आलोचक रचनाकार को देने को तैयार नहीं। उन के अनुसार विचारधारा तैयार करने वाले अलग और रचना बनाने वाले अलग। रचनाकार की अपनी विचारधारा होना, इस मतानुसार समाज के लिए ख़तरनाक होगा। बहुत कुछ पितृसत्तात्मक समाज की मान्यताओं के अनुकूल यहाँ रचना से आग्रह किया जाता है कि वह अपने पिता का नाम बताए, तभी उसकी स्थिति वैध मानी जा सकेगी। मार्क्स, गांधी, अरविंद आदि में से किसने उसे पैदा किया है, यह इस कोटि के आलोचकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पृच्छा बन जाती है। रचना रचनाकार का सृजन है—वह उस की जननी है—यह कुछ ऐसी सीधी स्पष्ट बात है जिसको जान लेने से आलोचक का अहं तुष्ट नहीं होता। वे यह समझ ही नहीं पाते कि जैविक सृष्टि से भिन्न रचना अनेक पिताओं की संतान होती है।

यदि, उदाहरण के लिए, प्रसाद की अपनी रचना-दृष्टि का विश्लेषण किया जाए तो उसके स्वरूप में अनेक विचार-तंतु बँटे हुए दिखाई देंगे। भारतीय परंपरा में आनंद की परिकल्पना उन्होंने उपनिषदों (अन्न-प्राण-

मन-विज्ञान-आनंद के रूप में ब्रह्म के उत्तरोत्तर उच्च स्तर) तथा शैवागम (समरसता-आनंद) दोनों से ली। बौद्ध चिंतन से करुणा की भाव-धारा उनके कृतित्व में बड़े गहरे प्रवाहित हुई है, यद्यपि कि बौद्धों के कठोर समाज-संगठन को उन्होंने स्वीकार नहीं किया और उसकी तीखी आलोचना अपने लेखन में की, जिसकी परिणति लेखक के अंतिम अधूरे उपन्यास 'इरावती' में द्रष्टव्य है। भारत से बाहर का द्वन्द्व सिद्धांत भी उन्होंने आरंभिक प्रारूप के तौर पर स्वीकार किया (द्र० 'यही दुख-सुख विकास का सत्य', 'कामायनी'; 'अजातशत्रु' नाटक के आमुख 'कथा-प्रसंग' में इतिहास-प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मक व्याख्या)। इस द्वन्द्व से समरसता और समरसता से आनंद की भाव-भूमि तक वे पहुँचे, विविध भारतीय तथा पाश्चात्य चिंतन-धाराओं का एक कल्प तैयार करते हुए। अब इस पृष्ठभूमि में प्रसाद को शैवागमवादी या कि शैव सिद्धांत का अनुयायी कहना एक आलोचनात्मक नादानी है। पर नादानी जब जानबूझ कर हो तो आलोचक की नीयत पर शक होने लगता है। कोई रचनाकार अनेक गुरु-परंपराओं से सीखता है, यह ठीक है। पर वह किसी एक को गुरु मान कर नहीं चलता। व्यक्तिगत जीवन में किसी संप्रदाय की दीक्षा लेने पर तुलसीदास रामचरितमानस के आरंभ में गुरु-वंदना करते हैं, पर वहीं यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि नाना पुराण निगमागम से उन्होंने अपने को संपन्न किया है। यों अनेक विचारों की टकराहट के बीच से रचनाकार अपनी दृष्टि को पकाता है।

इस रूप में देखने पर नये संदर्भों के अंतर्गत साहित्य में विचार-तत्त्व का अधिकाधिक घुलाना जितना ज़रूरी होता गया है उतना ही ज़रूरी हुआ है उसे विचारधारा के दबाव से मुक्त रखना। आधुनिक कवि शमशेर ने मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता को स्वीकार करते-करते इस बात को अपने ढंग से यों कहा है, 'कविता में सामाजिक अनुभूति काव्य-पक्ष के अंतर्गत ही महत्त्वपूर्ण हो सकती है।' ('कुछ और कविताएँ' की भूमिका) भाव यह है कि कविता में छन कर आया हुआ अनुभव पक्षधर नहीं रह जाता, विचार और समझ तक का स्तर पक्षधरता का हो सकता है। व्यक्तिगत प्रसंगों में मार्क्सवाद के प्रशंसक और किसी क़दर अनुयायी शमशेर की अपनी कविता उनकी इस मान्यता का पुष्ट प्रमाण है। नयी

कविता और शमशेर की सफलता आधुनिक युग की वैचारिकता को क्रमशः अनुभव और अनुभूति में रूपांतरित करने में है। विचार से पोषित पर विचारधारा के दबाव से मुक्त, यह रचना-प्रक्रिया आधुनिक सर्जनात्मक लेखन और साहित्य-चिंतन के केन्द्र में है, जिसका काव्यशास्त्र स्वयं कविता में कह दिया है शमशेर ने 'बात बोलेगी/हम नहीं'। 'बात' कविता है, 'हम' विचारधारा और दर्शन। यहाँ जोड़ सकते हैं कि 'हम' के न रहने पर 'बात' ही रहेगी भी। दर्शन से विचारधारा बनती है और विचारधारा से फिर राजनीति। कविता और राजनीति के संबंध पर विचार पहले किया जा चुका है। राजनीति आधुनिक युग में मुख्यतः सामाजिक परिवर्तन का कारक है। तब प्रश्न आता है कि क्या कविता इस परिवर्तन में कहीं-किसी रूप में सहायक होती है? समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में कविता की क्या भूमिका हो सकती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है, विशेषतः समकालीन कविता के आग्रहों के संदर्भ में।

इस विवेचन के लिए निराला के दो उद्धरण लिए जा सकते हैं। एक कवि के मध्यकाल की रचना है, दूसरी उत्तरार्द्ध की, और दोनों रामविलास शर्मा द्वारा संपादित निराला की प्रतिनिधि कविताओं के संकलन 'राग-विराग' से लिए गए हैं। पहला अंश 'बेला' संकलन से है—

> **जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ!**
> **आज अमीरों की हवेली**
> **किसानों की होगी पाठशाला,**
> **धोबी, पासी, चमार, तेली**
> **खोलेंगे अँधेरे का ताला,**
> **एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ!**

दूसरा 'गीत गुंज' से—

> **जिधर देखिए, श्याम विराजे।**
> **श्याम कुंज-वन, यमुना श्यामा,**

श्याम गगन, घन-वारिद गाजे,

श्याम धरा, तृण-गुल्म श्याम हैं

श्याम सुरभि-अंचल दल साजे

×　　×　　×

श्याम काम, रवि श्याम मध्य दिन,

श्याम नयन काजल के आँजे

श्रुति के अक्षर श्याम देखिए,

दीपशिखा पर श्याम निवाजे,

श्याम तामरस, श्याम सरोवर

श्याम अनिल, छवि श्याम सँवाजे।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इन दोनों उद्धरणों की संवेदना में परस्पर क्या सामंजस्य है? पहली कविता परिवर्तन-कामिता को सीधे चित्रित करती है, दूसरी में साधक-मन की विराट् अद्वैतमूलक अनुभूति है। अब यदि सर्वत्र श्याम हैं तो किसानों की झोपड़ी में भी हैं और अमीरों की हवेली में भी। फिर यह परिवर्तन की तीव्र इच्छा क्यों? क्या दूसरा उद्धरण पहले को काट नहीं देता?

इस जिज्ञासा के मूल में जाने पर एक और गहरा प्रश्न उभरता है—साहित्य विचार है या अनुभव? यदि विचार है तो सीधे विचार को प्रभावित करेगा, और यदि अनुभव है, जहाँ विचार को भी गलाकर अनुभव में रूपांतरित किया गया है, तो वह अनुभव को स्पर्श करेगा। विचार जल्दी बदलता है, संस्कार क्रमशः। साहित्य कठिन काम करता है संस्कारों को बदलने का। फिर विचार को बदलने का काम है दर्शन का, या कि व्यावहारिक क्षेत्र में राजनीति का। अब हम घूम कर फिर से इस प्रश्न पर आ जाते हैं—क्या संबंध है साहित्य या कि कविता का राजनीति से? इस संदर्भ में सबसे स्पष्ट और निर्भ्रांत धारणा प्रेमचंद की है, जिन के साहित्य के बारे में कहा जा सकता है कि उस ने उत्तर भारत के जीवन को बदला है, बिना इस गुमान के कि हमें जीवन को बदलना है। प्रेमचंद ने अपने प्रगतिशील लेखक संघ के अभिभाषण (१९३६) में

कहा था—और यहाँ प्रस्तुत विवेचन में इसे दुहराया जा सकता है—"वह (अर्थात् साहित्य/साहित्यकार) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उन के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।" यहाँ मशाल का बिंब विशेष ध्यान देने योग्य है। मशाल जलती भी है और जलाती भी है—एक मात्रा का फ़र्क है। पर प्रेमचंद के लिए साहित्य जलने वाली मशाल है, जलाने और विध्वंस करने वाली नहीं। वह राजनीति की पथ-प्रदर्शक और उसे आलोक देने वाली है। साहित्य उनके लिए पक्षधर या हथियार नहीं, विवेक और अन्वेषण की प्रतीक मशाल है। इसी समय के आसपास कवि निराला और आलोचक रामचंद्र शुक्ल साहित्य के दूरगामी महत्त्व को राजनीति की तात्कालिक वृत्ति के ऊपर स्थापित करते हैं। यहाँ कवि, कथाकार, आलोचक का दृष्टिकोण एक है, जिस का विस्तृत विवेचन पहले हो चुका है।

प्रेमचंद, निराला और रामचंद्र शुक्ल की पीढ़ी के बाद आधुनिक भाव-बोध के प्रमुख प्रवर्त्तक अज्ञेय आते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि साहित्य और राजनीति के संबंधों में तनाव जितना बढ़ता गया है रचनाकार ने अपने आप को उतने ही बल के साथ रचना के पक्ष में प्रक्षिप्त किया है। साहित्य में और कविता में विशेषतः आधुनिक चेतना के वाहक अज्ञेय का मानना है, "लेखक अनिवार्यतः सामाजिक क्रांतिकारी है,. इस किशोर-मोह से मैंने छुटकारा पा लिया है। लेखक सिवा अपने के कुछ को नहीं बदलता।" ('आत्मनेपद'—पृ० ६० : १९६० ई०) दृष्टिकोण जैसा ही टनटनाता वाक्य-विन्यास यहाँ सुनने को मिलता है, "लेखक सिवा अपने के कुछ को नहीं बदलता।" ध्वनि स्पष्ट है कि रचना-कर्म से बदलता वह स्वयं को है समाज को तो संस्कारित करता है। कविता या साहित्य का प्रभाव बंबइया फ़िल्म की तरह आक्रामक नहीं होता, जो जितने वेग से चढ़ता है वैसे ही उतर जाता है। रचना यदि रचनाकार के मन में पकने का समय लेती है तो पाठक के मन में भी संक्रमित होने का समय लेती है। और यों एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व का अंग बनता है।

तो हमारी जिज्ञासा का समाधान कैसे होता है? जीवन-यथार्थ के अलग-अलग स्तरों से जुड़े निराला के दो उद्धरण, जो पहले रखे गए,

फिर एक-दूसरे से कैसे जुड़ते हैं? कविता की इस समस्या का उत्तर निराला के समकालीन और वरिष्ठ कवि जयशंकर प्रसाद में अनायास मिलता है। प्रसाद के 'झरना' के मुख-बंध में एक कविता है 'परिचय'। यहाँ स्मरणीय है कि 'झरना' (१९१८) छायावादी काव्य का आद्य संकलन है। इस के मुख-बंध में नये ढंग की कविता की संप्रेषण-प्रक्रिया को छायावाद के वरिष्ठ कवि ने जैसे स्पष्ट किया हो। यहाँ छंद की आरंभिक तीन पंक्तियों में जिज्ञासा है, और अंतिम में उस का समाधान— पूरी कविता के कई छंदों का क्रम-विधान इसी प्रकार चलता है—

उषा का प्राची में आभास।

सरोरुह का सर बीच विकास॥

कौन परिचय था? क्या संबंध?

'गगन मंडल में अरुण विलास'॥

आकाश की लालिमा, किसी सूक्ष्म परिचय के सहारे, पृथ्वी पर सरोवर के कमल की पंखुरियों में खिल उठती है। कुछ ऐसा ही संबंध रचना और उस के पाठक या श्रोता के बीच है। पर लालिमा ऊपर से नीचे ही नहीं खिलती, नीचे से ऊपर भी खिलती है; दोनों को जोड़ने वाला परिचय और संबंध है—'गगन मंडल में अरुण विलास', जहाँ यथार्थ के विविध स्तर परस्पर मिलते हैं।

यह संबंध निश्चय ही जटिल है और सिर्फ़ सीधे बयान या कि बाँकी 'आयरनी' के माध्यम से संभव नहीं, जिन दो दिशाओं में हिंदी की युवा कविता पिछले कुछ वर्षों में नयी कविता-नवलेखन की प्रतिक्रिया में बढ़ी है। इस जटिल संबंध को साधने के लिए समकालीन कवि को अपनी बुनियादी भाषा में निष्ठा रखनी है। साधारण भाषा में साधारण अनुभूति की विशेष पहिचान करनी है। असाधारणता अथवा विशिष्टता न भाषा में है, न अनुभूति में, वह है उस की पहिचान में, जो उन दोनों की अंतर-क्रिया में बनती है, और जो पहिचान कवि अपनी सहज मुक्त दशा में करता है।

कविता को राजनीति और विचारधारा के सर्वग्रासी चरित्र से इसलिए भी बचना है क्योंकि समकालीन जीवन में इन की गहरी साँठ-

गाँठ संचार-माध्यम से है। यदि कविता राजनीति के प्रभाव में रहती है तो उसे संचार-माध्यम का अनुचर होना होगा। विचारधारा-राजनीति-संचार साधनः यह एक संयुक्त मोर्चा है जो स्वाधीनता और सर्जनात्मकता को अपने अनुकूल नहीं मानता, और जिसकी मूल प्रकृति तात्कालिकता की है जबकि कविता सर्जनात्मकता का श्रेष्ठतम रूप है। यों कविता का अपना और वृहत्तर समाज दोनों का हित कविता की स्वायत्तता में है। स्वायत्त होकर ही कविता समाज और व्यवस्था-तंत्र में प्रतिपक्ष का स्थायी दायित्व निभा सकेगी और मनुष्य की व्यापक सांस्कृतिक प्रदूषण से सुरक्षा कर सकेगी। कविता या कि साहित्य मात्र किसी पक्ष को लेकर अपने को उस से बाँध नहीं सकता, उस की प्रकृति स्थायी प्रतिपक्ष की है जो भूमिका कबीर ने अपनी दो-टूक शैली में यों निर्धारित कर रखी है—

सुखिया सब संसार है खाये अरु सोवै।

दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै॥

अध्याय के आरंभ में वर्णित बाहर-भीतर के द्वन्द्व के संदर्भ में रचनाकार की प्रतिबद्धता स्वयं अपनी निष्ठा के लिए हो तो यही काम्य है; तभी विचारधारा या दर्शन के अनुशासन से अलग कविता में सर्जनात्मक रचना-दृष्टि विकसित हो सकेगी।

प्रदूषण के युग में कविता

(सांस्कृतिक साम्राज्यवाद : कविता का प्रतिरोध

३
प्रदूषण के युग में कविता

मनुष्य सृष्टि के केन्द्र में है, प्रकृति उस की आद्य सहचरी है, यंत्र का आविष्कार उस ने स्वयं किया है। मनुष्य, प्रकृति और यंत्र के संबंध यदि सही अनुपात में न हों तो यह प्रदूषण की स्थिति है। प्रकृति और मनुष्य के दोनों पक्षों को देखते हुए प्रदूषण दो तरह का हो सकता है—भौतिक और आध्यात्मिक। जब तक प्रकृति और मनुष्य दो ही थे तब संपूर्ण सृष्टि-चक्र बिना किसी हस्तक्षेप के चलता, उसे ऋत कहा गया। मनुष्य ने यंत्र का आविष्कार करके अपने और प्रकृति के बीच संबंधों में हस्तक्षेप किया, यही प्रदूषण का बीज बना। प्रकृति के कभी सदय और कभी कुपित रूप से बचाव के लिए जब मनुष्य ने उपकरण खोजे और बनाए जैसे आग, घर, आखेट और खेती के हथियार-औज़ार तब तक प्रदूषण नहीं होता। जब मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने की कामना से अभियान शुरू करता है तो उपकरण से आगे यंत्र बनते हैं, और प्रदूषण शुरू होता है। पिछड़े देशों में प्रदूषण का कारण तरह-तरह की गंदगी है तो विकसित देशों में सफ़ाई से निकला हुआ कचरा घर का, उद्योगों का, आणविक उपकरणों का। आजकल भौतिक स्तर के यानी वातावरण प्रदूषण और उस के निवारण की चर्चा गरम है। इस में, जैसा प्रायः होता है, कुछ तो वास्तविक है और कुछ महज़ फ़ैशनधर्मी। इस भौतिक प्रदूषण के समानांतर जो आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक प्रदूषण चल रहा है उस की ओर ध्यान अभी कम है। हिंसा-सैक्स-अपराध से लदी-फँदी फ़िल्में, तेज़ आवाज़ों का संगीत (?)—जिन्हें पहले सिनेमाघरों/सभागारों में जाकर ही देखा-सुना जा सकता था—अब उन्हें दूर संचार की सुविधा से लोगों के घरों में एक बटन दबाने की दूरी पर चौबीस घंटे सुलभ कर दिया गया है। मुद्रित शब्द का अधिकांश भी अब बहुत कुछ इसी रास्ते पर है। राजनीति, शिक्षा, धर्म, सामाजिक जीवन—सर्वत्र एक मूल्यहीनता

की स्थिति व्याप्त है, सैटलिट प्रसारण के आक्रमण पर पूरे समाज ने आत्मसमर्पण कर दिया है। अपने देश में ही हम सांस्कृतिक रूप से विस्थापित हो रहे हैं, और सामाजिक जीवन पर नशीली दवाओं-हिंसा-विकृत यौनाचार-अपराध की जकड़न दिन-दिन बढ़ती जा रही है। कुल मिलाकर पापाचार को इतने भव्य, आकर्षक और विस्तृत रूप में इतने अंकुठ भाव से इस के पहले कभी प्रस्तुत नहीं किया गया।

ऐसे परिवेश में कविता वह साधन है जिस से संचार-माध्यमों द्वारा फैलाया प्रदूषण दूर होता है और तकनीकी से उत्पन्न तनाव कम। वह ऐसा वृक्ष है जिसे आप जब जहाँ चाहे अपने मन के भीतर उगा सकते हैं। कालिदास-शेक्सपियर-तुलसीदास-ग़ालिब-रवीन्द्रनाथ और निराला आप के आंतरिक वर्षा वन हैं जो हर तरह के प्रदूषण को रोकते हैं और अंतःकरण को उपजाऊ बनाए रखते हैं। प्रदूषण अधिकतर ऐसे साधनों से उत्पन्न होता है जिनकी प्रकृति तात्कालिक है चाहे वह मोटरकार के पिछले पाइप से निकला धुँआँ हो या कि 'केबल' पर दिखाई जाने वाली नीम अश्लील फ़िल्म—पूरी अश्लील फ़िल्म की गाहकी कम होगी और कुल मिलाकर उसके प्रभाव की व्यापकता और मात्रा भी कम रहेगी। प्रदूषण की इस तात्कालिक वृत्ति का प्रतिरोध लंबे समय से मन में जमे संस्कारों और उनके प्रधान कारकों जैसे साहित्य, कलाओं, धर्म-दर्शन से किया जा सकता है। ये सभी कारक हर व्यक्ति के पास हर समय सुलभ नहीं। यहाँ कविता ऐसा साधन है जो स्मृति से संस्कार में, और संस्कार से स्मृति में जल्दी आ जा पाती है, और व्यक्तित्व में बाहरी तथा अनजाने तत्त्वों के प्रवेश पर नियंत्रण रख सकती है। कुल मिलाकर बहुत बार अपनी सुलभता के कारण व्यापक पर्यावरण-सुरक्षा में उस का गुणात्मक योग-दान है। वह मनुष्य, प्रकृति और यंत्र के संबंधों को सही अनुपात में बनाए रखने में सहायक है।

अपने प्रसिद्ध बीज निबंध 'कविता क्या है?' (१९०९) का समापन करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था, "बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिस के भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी की अंतःप्रकृति में मनुष्यता को

समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इस की जरूरत नहीं।" हल्के व्यंग में पूरा होने वाला यह पर्यवेक्षण अब पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक हो गया है। कहा जा सकता है कि तब का आचार्य का व्यंग अब आशंका बन रहा है। इस निबंध को यदि वे आज संशोधित करते—जैसा उन्होंने कई बार किया था—तो एक अंतिम वाक्य यों जोड़ देते 'प्रदूषण के इस युग में मनुष्य के लिए इस की जरूरत बढ़ गई है'। कविता और पर्यावरण-सुरक्षा का संबंध यों हिंदी आलोचना में प्रायः एक शताब्दी से चला आता है।

प्रकृति और यंत्र के द्वन्द्व में कविता ने सदैव से प्रकृति का पक्ष लिया है, और इस प्रसंग में कुछ चिंतक उस के साथ रहे हैं। पिछली दो शताब्दियों में जब से प्राविधिक विकास ने गति पकड़ी है तभी से पश्चिम के अनेक महत्त्वपूर्ण चिंतकों ने भौतिक सभ्यता के विकास के बीच भी प्रकृति के जीवन-मूल्यों की संगति पर बल दिया, जिन में से कुछ उल्लेखनीय नाम हैं थोरो, इमर्सन, टॉलस्टॉय, बर्नर्ड-शॉ और शुमाख़र। यह संयोग से कुछ अधिक है कि इनमें से कई के साथ महात्मा गांधी की वैचारिक अंतर-क्रिया चलती रही। इधर एकदम समकालीन जीवन में अनेक विचारक और सामान्य जन भी, प्राकृतिक जीवन-चर्या की अनदेखी करने को समूची मानव जाति के भविष्य के लिए अहितकर मानते हैं। वे शाकाहारी जीवन, सादा जीवन-क्रम और उपचार, प्राकृतिक ढंग के उर्वरक और कीटनाशक से उपजाए गए भोजन की उपादेयता पर उत्तरोत्तर अधिक बल दे रहे हैं। लंदन से प्रकाशित–'द इकॉनॉमिस्ट' पत्र के डेढ़ सौ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में आयोजित विशेषांक में अगले डेढ़ सौ वर्षों का अनुमानित लेखा-जोखा दिया गया है। वहाँ, कुछ व्यंग में ही सही, इस बात का उल्लेख किया गया है कि अमेरिका की प्रख्यात विधि-पत्रिकाओं में 'वृक्षों के अधिकारों' पर गंभीर विवेचन चल रहा है। यह ठीक है कि ये प्रवृत्तियाँ वर्तमान सभ्यता की मुख्य धारा न होकर प्रतिपक्ष का ही रूप हैं, पर स्वयं कविता और कलाएँ बड़ी से बड़ी सभ्यताओं के लिए शाश्वत प्रतिपक्ष रही हैं।

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' (१९३७) वैदिक सभ्यता के प्रक्षेपण में आधुनिक प्राविधिक सभ्यता की तीखी आलोचना है जहाँ प्रकृति का

दोहन न होकर उस का विनाश किया जा रहा है। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि प्रकृति के उपयोग का आवाहन श्रद्धा और इड़ा दोनों मनु के समक्ष करती हैं। श्रद्धा का कहना है, 'एक तुम, यह विस्तृत भू खंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद/कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनंद' (श्रद्धा सर्ग); इड़ा भी यही सुझाव देती है, 'यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन/तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्म-लीन.........तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय।' (इड़ा सर्ग) प्रकृति के उपयोग में जड़ता को चैतन्य करने की बात दोनों कहती हैं, महत्त्वपूर्ण अंतर उपयोग-प्रक्रिया का है। श्रद्धा इस के लिए निष्काम कर्म से आगे बढ़ कर कर्म और भोग का संपृक्त रूप प्रस्तावित करती है, जिस के माध्यम से आनंद तक पहुँचा जा सकता है, इड़ा की दृष्टि में यह प्रक्रिया विज्ञान को साधन-उपाय बना कर संपन्न होगी। मनु को इड़ा का प्रस्ताव बेहतर लगता है, और वे उसी के बताए नक्शे पर सारस्वत प्रदेश की प्रविधि प्रधान सभ्यता का निर्माण करते हैं जहाँ फिर लोभ और संचय की वृत्ति प्रधान हो गई ('तुमने योग-क्षेम से अधिक संचय वाला/लोभ सिखाकर इस विचार संकट में डाला')। इस का अनुभव मनु को तब होता है जब 'संघर्ष' सर्ग में प्रकृति और जन दोनों शक्तियाँ उन के विरुद्ध विद्रोह कर देती हैं।

प्रकृति का यह विद्रोह पहली बार नहीं है। इस के पहले प्रकृति की शक्तियों ने देव-सभ्यता में विद्रोह किया था क्योंकि यह सभ्यता 'सुख, केवल सुख' की विचारधारा पर आधारित थी। वह विद्रोह ऐसा उग्र था कि सृष्टि का अधिकांश प्रलय में डूब गया था। श्रद्धा और इड़ा के वैचारिक द्वन्द्व की पृष्ठभूमि में मनु का यह निकट अतीत है, जहाँ देवताओं के अतिचार से त्रस्त प्रकृति फूट पड़ी थी। समकालीन परिदृश्य उस देवकालीन संस्कृति से बहुत भिन्न नहीं है दिन-दिन प्रकृति पर बढ़ते दबाव, 'सुख, केवल सुख' की विचार-धारा में मनुष्यों की प्राकृतिक शक्ति के क्षरण ('प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी'—संघर्ष सर्ग) और, कुछ सीमित व्यक्तियों के लिए ही सही, अधिकाधिक होते अवकाश की समस्या के संदर्भ में। कल्पवृक्ष, कामधेनु या कि आधुनिक यांत्रिक सुविधाओं के बीच कर्म कम होता जाता है, 'भोग' बढ़ता जाता

है, जब कि अधिसंख्य जन के लिए इस का उल्टा है—'कर्म' बहुत अधिक है, 'भोग' बहुत कम। प्रकृति के दोहन के लिए कर्म और भोग की जिस चक्रीय प्रक्रिया को श्रद्धा ने प्रस्तावित किया ('कर्म का भोग, भोग का कर्म/यही जड़ का चेतन आनंद') वह दोनों तरह की व्यवस्थाओं में अनुपस्थित है। देव संस्कृति तो अवकाश और भोग-विलास से इतना युक्त थी कि समय बिताने के लिए उन्होंने सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से मनोरंजन के साधन की माँग की। और भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के आरंभ में वर्णित नाटक के जन्म की कथा को साक्ष्य मानें तो दिखता है कि देवता धीरे-धीरे इतने निष्क्रिय और आलसी हो गए कि स्वयं नाटक का अभिनय भी नहीं करना चाहते, महज़ दर्शक होने में उनकी रुचि थी। यह मनुष्य सृष्टि के लिए दूर अतीत का वर्णन है तो निकट भविष्य का प्रक्षेपण भी, कम से कम इकीसवीं शती में प्रवेश करते कुछ 'विकसित' देशों के लिए। पर इस यंत्र प्रधान सभ्यता में बढ़ते अवकाश की सुविधा एक ओर है तो घटते प्राकृतिक साधनों की समस्या दूसरी ओर। देवकालीन सभ्यता की गूँज में प्रकृति पर अतिचार के उदाहरण रूप समकालीन परिदृश्य पर कोयला, लकड़ी, पेट्रोल, बिजली यहाँ तक कि भूतलीय जल-स्रोत के क्षरण की समस्या सामने आ गई है। ऐसे में 'कामायनी' दुबारा नहीं लिखी जानी। या तो 'कामायनी' स्वयं रास्ता दिखाएगी, या फिर कविता का कोई दूसरा रूप आएगा प्रकृति का पक्षधर बन कर सृष्टि को प्रदूषण और फिर क्रमिक विनाश से बचाने।

प्रदूषण का एक मुख्य कारण मनुष्यों की आबादी का घनत्व होता है, जिसे दूर कर सकना न तो प्रकृति के बस में है और न ही कविता के। पर इस घनत्व के कारण पर्यावरण में हुए असंतुलन को दोनों ठीक अपने-अपने ढंग से करते हैं। प्रकृति के संबंध में वैज्ञानिकों ने बार-बार लक्षित किया है कि उस की प्रक्रिया में—जिसे प्राचीनों ने ऋत कहा—ऐसे तत्त्व आप से आप सन्निहित हैं जो पर्यावरण में संतुलन बिगड़ने नहीं देते। दूसरी ओर मानवीय परिवेश में कविता मनुष्य के मन के आवश्यक संतुलन को आंतरिक एकांत देकर बनाए रखती है, जो संतुलन मनुष्य की मनुष्य से टकराहट में क्षरित होता रहता है, और जिस टकराहट को संचार-साधन बराबर और बलात् बढ़ाते जाते हैं। इस दृष्टि से बाहर

प्रकृति और अंदर कविता मनुष्य को यंत्र की मार से सुरक्षित रखती है। फिर प्रकृति और कविता की अपनी अंतर-क्रिया उन की सुरक्षा-क्षमता को और बढ़ाती है। यह रोचक विडंबना है कि आज की आक्रामक सभ्यता में जितना ये दोनों बचाव की स्थिति में हैं उतनी ही अधिक उनकी ज़रूरत है। अच्छाई एक यह है कि पर्यावरण-सुरक्षा की चिंता बढ़ती पर है, जो किसी न किसी स्तर पर कविता के भी हित में है।

पर्यावरण-संतुलन के पीछे सृष्टि के आंतरिक अंतरावलंबन की धारणा है, जिस के नये प्रमाण बराबर मिलते जाते हैं। प्रदूषण इस अंतरावलंबन में बाधा डालता है, या कहें इस के बाधित होने से उत्पन्न होता है। इधर कुछ नया शोध-कार्य हुआ है जिस से पता चलता है कि एक क्षेत्र के पशु-पक्षियों की बोली के समय और प्रकार में प्रकृति ने कुछ ऐसा ताल-मेल रखा है कि उन की अलग-अलग ध्वनियाँ मिल कर एक विराट् रागिनी की सृष्टि करती हैं। 'द लिटरेरी रिव्यू' (फ़ेयरले डिकिन्सन विश्वविद्यालय, मेडिसन, अमेरिका, वर्ष ३६ : अंक १) में प्रकाशित अपने निबंध में बर्नर्ड एल० क्रौस ने वैज्ञानिक पर्यवेक्षणों के आधार पर दिखाया है कि कैसे वन के जीव-जंतुओं की आवाज़ें मिलकर एक वाद्य-वृंद का रूप ले लेती हैं। इस निबंध को पढ़ते-पढ़ते प्रसाद की देवसेना का संवाद अनायास याद आ जाता है जहाँ वह कहती है, "प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है, इसी से तो उस का स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता।"

पिछले कुछ दशकों में प्रविधि के तीव्र विकास का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि गति बढ़ी है और संसार की सीमाएँ संकुचित हुई हैं। इस से मनुष्य एक दूसरे के अधिकाधिक संपर्क में आया है। और यह मनुष्य का तेज़ी से बढ़ता संपर्क मूल्यहीनता की स्थिति का एक प्रधान कारण है, जिस की ओर इस विवेचन के आरंभ में संकेत किया गया है। एक सीमा के बाद मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा ख़तरा हो जाता है। अधिकाधिक बार के संपर्क से मनुष्य की अनुभूति-शक्ति का क्षरण होता है। लोहे को लोहा ही काट देता है। और अनुभूति के क्षरण का अर्थ है मानवीय सौहार्द में उत्तरोत्तर कमी तथा एक तरह की कठोरता का विकास, जिस का साक्ष्य हमारा समकालीन जीवन और

साहित्य दोनों प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य का मनुष्य से संपर्क बढ़ते हुए रूप में तनाव, द्वन्द्व या संघर्षकी मनःस्थिति को जन्म देता है, जो कि बौद्धिक चेतना केन्द्रों के परस्पर संपर्क का स्वाभाविक परिणाम है, ख़ासतौर से आधुनिक परिग्रही समाज में। द्वितीय महायुद्ध को यदि विभाजक रेखा मानें—क्योंकि तभी युद्धकालीन आवश्यकताओं के दबाव में प्रविधि का विकास सहसा तीव्र हो गया था—तो उस से पूर्व भारत का औसत मनुष्य अपने समूचे जीवन-काल में सौ-दो सौ व्यक्तियों से मिल पाता था। पर संचार के प्रत्यक्ष (रेल, मोटर, जहाज़—कॉन्कॉर्द), और अप्रत्यक्ष (डाक-तार, रेडियो, समाचार-पत्र, टेलीफोन, फ़ैक्स) तथा दूर प्रत्यक्ष (सिनेमा, दूरदर्शन, केबिल) साधनों की सहायता से अब उस के परिचय और उस की भावनात्मक संसक्ति का क्षेत्र कई सौ प्रतिशत बढ़ गया है। उन्नत देशों में इस परिचय और संसक्ति का विस्तार और तेज़ी से बढ़ा है। चेतना-केन्द्रों का यह तीव्र गति से बढ़ता संपर्क मानवीय संवेदनशीलता पर बहुत बड़ा दबाव हो रहा है, जिससे अनुभूति का क्षरण होता है और स्नायविक रोगों की बढ़ोतरी। कुल मिलाकर अनुभूति के क्षेत्र में सनसनी का प्रवेश तेज़ी से बढ़ता जा रहा है।

सनसनी का कारण और परिणाम हिंसा एक ओर, और दूसरी ओर संचार-साधन परस्पर की अंतर-क्रिया में लगातार एक-दूसरे को बढ़ाते जाते हैं। कभी-कभी लगने लगता है कि दोनों का अस्तित्व ही एक दूजे के लिए है। फिर यह शंका मन में आने पर चिंता होती है कि कहीं हम सब का अस्तित्व इन्हीं के लिए तो अर्पित नहीं हुआ जा रहा। अमेरिका में क्रूर हत्यारों की संस्मरण-मालाएँ, जीवनियाँ, आत्मकथाएँ सभी संचार-साधनों के लिए अत्यंत आकर्षक प्रकाशन हैं, जिन्हें पाने के लिए अकूत अग्रिम रायल्टी देने को वे तैयार हैं। अपराध करने से कुछ अधिक ही लाभ इन अपराधियों को अपने अपराध-वृत्तांत ब्यौरेवार बताने के लिए मिलता है। इस प्रवृत्ति को रोकने की दृष्टि से कई बार सामान्यतः 'सैम के बेटे का क़ानून' नाम से चर्चित-जैसा क़ानून बनाने के लिए असफल यत्न भी हुआ है; वहाँ का संविधान जैसे बिना किसी अनुज्ञा के बंदूक रखने की स्वतंत्रता देने को वचनबद्ध है वैसे ही बंदूक-वृत्तांत-माला के प्रकाशन अधिकार के लिए भी। १९९३ में प्रकाशित कुख्यात हत्यारे

'जैक द रिपर की डायरी'—जिस का प्रचार-प्रसार वहाँ के शीर्ष पुस्तक व्यवसायी 'बार्ने एंड नोबल १८७३ से पुस्तक विक्रेता' द्वारा हो रहा है—प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'द न्यूयॉर्क टाइम्स' के—जिस का शीर्ष सिद्धांत वाक्य है : वह सब समाचार जो छपने के योग्य है'—पूरे पृष्ठ पर बड़ी सज-धज के साथ विज्ञापन पाती है। हिंसा की कोटि जितनी जघन्य है उतने ही ब्यौरे और विस्तार में उसका प्रचार-प्रसार-विज्ञापन है और हिंसा के जितने विज्ञापन से हम अभ्यस्त होते जाते हैं नशे की तरह उतनी ही अधिक मात्रा हमें चाहिएगी अपने लिए आवश्यक सनसनी पैदा करने के लिए। अनुपात का यह क्रम इस भयानक सांस्कृतिक प्रदूषण को तब क़िस दिशा में ले जाएगा, यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है।

आधुनिक सभ्यता का गठन अधिकाधिक यंत्र को केन्द्र में रखकर हुआ है। यंत्र में आवृत्ति, प्रसार और प्रेषण की क्षमता है, संप्रेषण की नहीं। इसलिए यंत्र की सहायता से अधिकाधिक मनुष्य एक-दूसरे के संपर्क में तो आ रहे हैं, पर उन में पारस्परिक संवाद और उस से उत्पन्न समझदारी का अभाव होता जा रहा है। यंत्र से गति बढ़ी है, पर प्रायः अनुभावन-शक्ति की कीमत पर। इस प्रसंग में तर्क किया जा सकता है कि मानवता के इतिहास में अभी तक गति तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही है और उसके साथ क्रमशः समायोजन भी किया जाता रहा है। तब फिर कोई कारण नहीं कि यह समायोजन भविष्य में भी संभव न हो।

यदि हम इस स्थिति पर विचार करें तो पाते हैं कि गति ज्यों-ज्यों बढ़ती है—और वह उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ती ही जाती है—त्यों-त्यों मनुष्य की अनुभावन-क्षमता छीजती जाती है, क्योंकि स्मरण-शक्ति की ही तरह अनुभावन शक्ति की भी अंततः एक सीमा है। स्मरण-शक्ति सक्रिय रहती है विस्मरण के सहारे। नयी घटनाओं को याद रखने के लिए हम बहुत-सी पुरानी भूलते जाते हैं। पर अनुभव तो क्रमशः व्यक्तित्व का अंग बन जाता है जिसे काट कर निकाला नहीं जा सकता। मानवीय अनुभवों को सँजोकर रखने के लिए अंतराल चाहिए जैसे आधुनिक महानगरों के आबादी-क्षेत्रों के बीच हरित पट्टियाँ छोड़ दी जाती हैं—अमरीका की राजधानी वाशिंगटन नगर तो आबादी और जंगल को मिलाकर जैसे बनाया गया हो। ये अनुभव के अंतराल कैसे बनें और बने रहें, यह आने वाली शताब्दी के लिए और आगे के लिए भी एक विषम समस्या

है। कविता और कला रचना को इस अंतराल में उगना है, और मनुष्य का मनुष्य से संपर्क एक सीमा के बाद बचाए रहना है। या कि अपने माध्यम से उन्हें जोड़ना है। भारत औद्योगीकरण के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है, और इस स्थिति की वजह से हमें इस बात की छूट और सुविधा है कि हम उन गलतियों से बच सकते हैं जो पश्चिम ने अपने विकास के दौरान की हैं। धार्मिक संस्कृति का कभी हमने विकास किया था, और अब वैज्ञानिक संस्कृति के परिष्कार का दायित्व हमारे ऊपर है। यह हमारे वश में है और करणीय है। कविता को इस दिशा में अपना योग देना होगा।

कुछ समय हुआ जब किसी पत्रिका में पढ़ा था कि ब्रिटिश संसद् में कविता की स्थिति पर विचार-विमर्श हुआ। संसदों की जननी में यह बहस हुई तो सर्वथा उस के योग्य है। एक माननीय सदस्य ने पुरानी लोकप्रिय पंक्ति दुहराई 'Man must have time to stand and stare.' अर्थात् मनुष्य को कुछ देर थमने और अपने चारों ओर निहारने के लिए समय होना चाहिए। उन्होंने सारी स्थिति का सर्वेक्षण करके निष्कर्ष निकाला कि ब्रितानी जीवन में अभी और कविता की आवश्यकता है। यह वृत्तांत पढ़कर कुछ रोचक और अटपटा साथ ही विडंबनापूर्ण भी लगा कि जिस जाति ने औद्योगिक क्रांति का चक्र चला कर सारे संसार को आपा-धापी में डाल दिया और हिमालय से लेकर अंतरिक्ष-महासागर तक के प्रदूषण के लिए दरवाज़ा खोला, वही जाति अब चारों ओर की प्रकृति को निहारने के लिए समय चाहती है, और कविता की अधिकाधिक ज़रूरत महसूस कर रही है। पर यह समझ में आता है कि ब्रितानी संसद् की बहस महज़ औपचारिक मुद्रा नहीं वरिष्ठ सदस्यों की कहीं संवेदनात्मक रिक्तता की अभिव्यक्ति है, जिस रिक्तता को भरने के लिए कविता की ज़रूरत ज्ञापित की जा रही है।

पर संसद् की सारी सदाशयता के बावजूद उस के किसी प्रस्ताव या विचार-विमर्श के आधार पर कविता नहीं रची जा सकती। उस की अपनी समस्याएँ हैं। और इधर तो कविता ही नहीं, भाषा के अपने अस्तित्व की समस्या है। आधुनिक संचार-साधनों में दो वृत्तियाँ देखी जा सकती हैं—एक तो तात्कालिकता, और दूसरे दृश्य-चित्रों का त्वरा से बदलना। तात्कालिकता का गुण तो संचार माध्यम मात्र की विशेषता है, पर दूसरी वृत्ति फ़िल्म, टेलीविज़न, रंगीन कॉमिक प्रकाशनों में देखी जा

सकती है। इन माध्यमों ने भाषा के परंपरागत रूप को आहत किया है। वर्ण अब वर्णमाला के रूप में नहीं है; रंग के अर्थ में जैसे सीमित हो गया हो। इन माध्यमों ने, और किसी क़दर सीधे दूरभाष प्रणाली ने, जैसा कि एक टिप्पणीकार ने कहा है, प्रौढ़ साक्षरों की एक नयी जमात पैदा कर दी है। ये वर्णमालावाली भाषा से विमुख होते जा रहे हैं। दृश्य-श्रव्य भाषा एकतरफा और हर समय उन के ऊपर हावी है, जवाब या प्रतिक्रिया के लिए उन्हें छूट नहीं। तात्कालिकता किसी भी वस्तु या रचना को आस्वाद्य न रख कर उपभोग्य बना देती है उच्च प्रविधि की सहायता से तैयार वह चाहे तत्काल भोजन हो या तत्काल संस्कृति। चर्वणा जितनी कम है, अपशेष उतना अधिक, और प्रदूषण तब उतना ही व्यापक। यों तात्कालिकता और प्रदूषण में सीधा अनुपात है। तात्कालिकता एक ओर रचना को ठीक-ठीक पकने नहीं देती, दूसरी ओर उसे आस्वाद्य नहीं रहने देती या कि पचने नहीं देती। कुल मिलाकर इन परिस्थितियों में अनुभूति के ऊपर सनसनी को महत्त्व मिला है जो प्रदूषण के लिए उपयुक्त ज़मीन तैयार करती है। और सनसनी की मात्रा स्वभावतः मादक द्रव्यों की मात्रा की तरह बराबर बढ़ती जा रही है। इस के साथ यह भी लक्षित किया जा सकता है कि हिंसा—हर प्रकार की—बढ़ती पर है। भाषा का संस्कार कम होने पर उस के स्थूल स्थानापन्न के रूप में हिंसा बढ़े, तो यह शायद ठीक क्रम ही है। संचार की तात्कालिकता-सनसनी-मादक पदार्थ-हिंसा : इन सब का भौतिक और सांस्कृतिक प्रदूषण के साथ सीधा रिश्ता है। कविता, जो सनसनी को प्रशमित करने का एक सभ्य उपाय मानवता ने आविष्कृत किया था, अब क्रमशः सनसनी और हिंसा से और प्रदूषण से चतुर्दिक घिरती जा रही है। कविता भाषा का अधिकतम सघन और सर्जनात्मक रूप है और जब भाषा स्वयं बचाव की मनोदशा में हो तो कविता को सुरक्षित रखना संस्कृति के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती हो जाती है। भारतीय परंपरा में कहा गया है कि धर्म रक्षित किए जाने पर सब की रक्षा करता है। कविता उसी तरह रक्षित किए जाने पर समूची संस्कृति की रक्षा करती है।

आधुनिक संचार-क्रांति द्वारा विकसित सैटलेट प्रसारण और उस पर चलने वाले केबल टी०वी० ने पश्चिमी सभ्यता का—जिस का केन्द्र अब

यूरोप या इंग्लैंड न होकर अमेरिका है—प्रदूषण सारे संसार में फैला दिया है। इस के फलस्वरूप अलग-अलग देशों में आर्थिक, सामाजिक, प्राविधिक विकास की अवस्थाएँ अलग-अलग रहने पर भी वहाँ सांस्कृतिक प्रदूषण एक जैसा रहेगा—वही मैडोना, वही माइकेल जैक्सन, और उन के द्वारा समर्थित वैसे ही उपभोग्य वस्तुओं के विज्ञापन-प्रसारण। इस का अनिवार्य परिणाम यह होना है कि संसार के सभी देशों के उच्च वर्गों की बोली-बानी, उनके रहन-सहन, खान-पान में अद्भुत एकता आ जाएगी, विशेषतः ऐसे संसार में जहाँ सोवियत रूस के पराभव के बाद अमेरिका अकेला उच्च शक्ति के रूप में रह गया है। यानी हर जगह अँग्रेज़ी भाषा, डॉलर का सिक्का और पश्चिमी सभ्यता का चलन रहेगा। हर देश के निम्न, साधनहीन वर्ग अलग-अलग दिखेंगे, साधन-संपन्न वर्ग एक हो जाएँगे। इस एकता में संचार-साधन—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का महत्त्वपूर्ण योग-दान रहेगा।

धर्म निरपेक्षता की दुहाई देकर तीसरी दुनिया में यों आधुनिक पाश्चात्य जीवन-मूल्यों का प्रसार तेजी से बढ़ रहा है, जिन्हें लेकर स्वयं पाश्चात्य के अपने चिंतक और राजनेता परेशान हैं और 'पिछले जीवन-मूल्यों की ओर' वापस लौटने का नारा दे रहे हैं, और जिस की शिकायत प्रख्यात आधुनिक प्राच्यविद एडवर्ड सईद और विश्व हिंदू परिषद् के अंतर्राष्ट्रीय महामंत्री लगभग एक स्वर में करते हैं। सईद अपनी पुस्तक 'ओरिएंटलिज्म' (१९७८) के अंतिम खंड 'ओरिएंटलिज्म नाऊ' में कहते हैं, "जब (सर हैमिल्टन) गिब ने आधुनिक इस्लामी राज्यों में राष्ट्रीयता का विरोध किया तो उनका भाव था कि राष्ट्रीयता आंतरिक ढाँचों को कुरेद कर इस्लाम को प्राच्य अथवा ओरिएंटल बनाए रखेगी; धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता का कुल नतीजा होगा कि प्राच्य पश्चिम से कुछ भिन्न न रह जाए।" (पृ० २६३) इधर महामंत्री महोदय धर्म निरपेक्षता या कि सैकुलरिज़्म के प्रति अपनी आशंका यों व्यक्त करते हैं, "सरकार की धर्मनिरपेक्ष नीति पाश्चात्य संस्कृति और पाश्चात्य प्रचार-माध्यमों को मौका दे रही है कि वे देश में प्रवेश करके अपनी संस्कृति और विचारधारा फैलाएँ।" ('द टाइम्स ऑफ़ इंडिया', लखनऊ संस्करण, ११-२-१९९४) ये हैं धर्मनिरपेक्षता के ख़तरे तो दूसरी ओर इस

पश्चिमोभिमुख धर्मनिरपेक्षता की प्रतिक्रिया में धार्मिक कट्टरता बढ़ती पर है। इन अतिवादों के बीच से राष्ट्रीय संस्कृतियों को मानववादी बनाए रखना निश्चय ही स्वयं संस्कृति के लिए एक बड़ी चुनौती है। यहाँ स्मरणीय है कि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कोई लुक-छिप कर शस्त्रों से किया जाने वाला हमला नहीं, वह खुला खेल है यदि आप उसे देखने-समझने के लिए आँख रखते हैं और उसे बँधने नहीं देना चाहते तो। १९वीं शती के पूर्वार्द्ध में यह खुला खेल इंग्लैंड में मैकॉले ने सार्वजनिक रूप से दिखाया था भारत में अँग्रेज़ी की पढ़ाई विषयक नीति को लेकर, और २०वीं शती के अवसान काल में अमरीकी प्रसार माध्यम यहाँ प्राय: अनाम ढंग से इसे प्रदर्शित कर रहे हैं जिसके पसारे में अब पढ़े-लिखे और अपढ़ सब शामिल हैं।

नये व्यापक सांस्कृतिक फैलाव की समस्याएँ अलग-अलग देशों की गुटबंदी में कई तरह से दिखती हैं। यूरोपियन साझा बाज़ार का गठन पिछले कई वर्षों से चल रहा है, जिस का एक लक्ष्य यह भी है कि राजनैतिक-सांस्कृतिक शक्ति के रूप में एकीकृत यूरोप का उदय हो सके, जिस प्रक्रिया को लेकर अमेरिका अपने ढंग से चिंतित है। पर अभी इस एकीकरण में कई बाधाएँ हैं। प्रकट-अप्रकट रूप में मतभेद के कई मुद्दे हैं जिन में प्रमुख हैं कि इस साझा बाज़ार का विनिमय-सिक्का क्या हो, और विनिमय-भाषा क्या हो। काफ़ी समय से सुझाव यह चल रहा है कि इस समूचे बाज़ार का सिक्का किसी एक देश में प्रचलित सिक्का न हो कर एक नया यूरो सिक्का गढ़ा जाए। इस पर वर्ष १९९१-९२ में काफ़ी बहस चलती रही, जिस में भाग लेते हुए नोबल विजेता अमरीकी अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन ने सुझाव दिया कि कोई नया विनिमय-सिक्का न गढ़ा जाए। उन्होंने आशा प्रकट की कि जैसे यूरोपियन बाज़ार की साझी भाषा अँग्रेज़ी आप-से-आप स्थिर हो गई है वैसे ही कालांतर में कोई सिक्का परस्पर विनिमय के लिए उभर आएगा। उन्होंने नाम नहीं लिया, पर इस रण-नीति का आशय स्पष्ट था कि यह सिक्का अमरीकी डॉलर होगा। साझा बाज़ार के गठन के समय अँग्रेज़ी के प्रभुत्व को लेकर विशेष रूप से फ्रांस चिंतित था, ब्रिटेन स्वभावत: उस के पक्ष में था। सिक्का कौन-सा चले, कम से कम अमरीकी डॉलर तो न चले, इस को

लेकर ब्रिटेन और फ्रांस एकमत दिखते हैं। हर देश का राष्ट्रीय आत्माभिमान यहाँ उभर कर आता है कि सिक्का क्या चले, किस का चले, अभिधार्थ में भी और हिंदी भाषा की लक्षणा के अर्थ में भी। बाज़ार और व्यवसायियों के साथ भाषा मध्यकाल में भी फैलती थी, जब संचार-साधन बहुत सीमित थे; अब संचार-साधनों की स्फीति के युग में भी भाषा और बाज़ार का रिश्ता बहुत कुछ वैसा ही है।

इस नये प्रकार के राजनैतिक-सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को पश्चिम के बहुत-से विचारक अपनी-अपनी दृष्टि से लक्षित कर रहे हैं। इन में एक महत्त्वपूर्ण नाम है अभी उल्लिखित एडवर्ड सईद का जो जन्म से फ़िलिस्तीनी अरब ईसाई हैं, और अब अमेरिका के एक प्रख्यात विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी तथा तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर हैं। अपनी विशेष परिस्थिति में उपजे मानसिक-सांस्कृतिक तनाव का चित्रण उन्होंने अपनी नयी पुस्तक 'कल्चर एंड इम्पीरियलिज़्म', अर्थात् 'संस्कृति और साम्राज्यवाद' (१९९३) की भूमिका में इस प्रकार किया है, "साम्राज्यी संस्कृति की ऐसी कुछ व्यवस्था है, जो कि ब्रिटेन, फ्रांस या कि एक ख़ास ढंग से अमेरिका के साम्राज्य को छोड़ कर अन्यत्र कहीं वैसी द्रष्टव्य नहीं। जब मैं 'दृष्टिकोण और संदर्भ की बनावट' जैसा मुहाविरा प्रयोग करता हूँ तो मेरे मन में यही स्थिति है। दूसरी ओर ये तीन देश ऐसे हैं जिनके वृत्त में मैं जन्मा, बड़ा हुआ और अब रहता हूँ। यद्यपि यहाँ मैं पूरे इतमीनान से हूँ, फिर भी अरब और मुस्लिम संसार का मूल वासी होने के कारण ऐसे रहता हूँ कि दूसरे पक्ष से भी जुड़ा हूँ। इससे यह संभव हुआ है कि मैं एक अर्थ में दोनों पक्षों में हूँ, और दोनों के बीच मध्यस्थता कर सकता हूँ।" पर लेखक की सारी सदाशयता के बावजूद उस की मध्यस्थता बहुत कुछ पक्षधरता ही रहेगी, क्योंकि लेखक की मूल भाषा, अब, और उस से जुड़ी संस्कृति अँग्रेज़ी-अमरीकी है। जिसकी भाषा में बात करोगे अंततः बात भी उसी की रहेगी, क्योंकि भाषा कंप्यूटर की तरह तटस्थ नहीं है। यही वजह है कि अपनी मध्यस्थता को बलपूर्वक प्रमाणित करने के लिए सईद को अपने मूल देश फ़िलस्तीन और वहाँ की संस्कृति का बार-बार उल्लेख करना पड़ता है। भारतीय मूल के इंग्लैंड में रहने वाले अँग्रेज़ी लेखक नयपॉल या कि रशदी की

तरह सईद कृति रचनाकार नहीं, पर यह त्रयी जॉर्ज स्टीनर की परिभाषा में 'अतिरिक्तक्षेत्रीय' (एक्स्ट्रा-टैरिटोरियल) भी नहीं बन पाती, क्योंकि प्रवासी होते हुए अपने मूल देश और पूर्वजों की याद लगातार दिलाती रहती है; कौनराड, नबाकोव या बैकेट की तरह अपनी रचना में अपनी जड़ों की फिर चिंता नहीं करती, जैसी रागात्मक तटस्थता रचना-कर्म की ख़ास मनःस्थिति होती है।

बहरहाल, शिष्टाचार की भाषा में अंतर्राष्ट्रीय या कि पश्चिमी, पर सीधे देखने में अमरीकी, बाज़ार का दबाव एक ओर है, और राष्ट्रीय अस्मिता दूसरी ओर। सईद का पक्ष विश्लेषण किसी क़दर सही है, पर इसमें मध्यस्थता के लिए उनकी अपनी उपयुक्तता संदिग्ध। मध्यस्थता वही कर सकता है जो दोनों पक्षों में से प्रबल पक्ष का वासी न हो। अमेरिका में रह कर, अँग्रेज़ी में लिख कर सईद अमरीकी और अरब संस्कृतियों के बीच जो मध्यस्थता करेंगे वह उनके चाहे-अनचाहे अमेरिका का पक्ष होगा।

एडवर्ड सईद के संपूर्ण विवेचन में नये-पुराने जितने विचारक आते हैं प्रायः सभी अँग्रेज़ी या कि यूरोपीय भाषाओं के हैं। अरब-एशियन भाषाओं के विचारक-लेखक इस स्तर के योग्य उन्हें नहीं लगते। रोचक स्थिति यह है कि सईद को शिकायत है कि उपनिवेशित जन की बात साम्राज्यवादी शक्तियाँ स्वयं उन के मुँह से नहीं सुनना चाहतीं, खुद अपने ढंग से बताती हैं, जिस समूची १९वीं २०वीं शती की लंबी प्रक्रिया को उन्होंने कुछ चिढ़ की मुद्रा में नाम दिया 'ओरिएंटलिज़्म', और जिस की बखिया उधेड़ते हुए इसी शीर्षक से अपनी पहली सुविख्यात पुस्तक लिखी (१९७८)। सद्यःप्रकाशित 'कल्चर एंड इम्पीरियलिज़्म' (१९९३) में उन्होंने एक स्वतंत्र अनुच्छेद में (पृ० ५०) यह शिकायत इस प्रकार दर्ज की है, "बिना किसी विशिष्ट अपवाद के आधुनिक यूरोप और अमेरिका के वैश्विक व्याख्यानों में, चाहे-अनचाहे ग़ैर-यूरोपीय संसार के लिए एक सधी हुई चुप्पी है। वहाँ साझेदारी है, शामिलियत है, सीधा शासन है, और दबाव है। किंतु विरल स्वीकार इस बात का है कि उपनिवेशित जन की बात उन से सुनी जानी चाहिए, उन के विचार समझे जाने चाहिए।" पर अरब-एशियाई मुँह की बात स्वयं सईद ही कहाँ सुनना-समझना चाहते हैं, 'चाहे-अनचाहे'? वे मुँह व्यावहारिक और

संवेदनात्मक दोनों धरातल पर उन के लिए बोधगम्य नहीं रह गए। मैकॉले ने अँग्रेज़ी शिक्षा का जो नक्शा रखा था भारतीयों के लिए ('रक्त से और रंग से भारतीय, पर रुचि, विचारधारा, नीति और दिमाग से अँग्रेज़' : १८३५) वह धीरे-धीरे संसार के अधिकांश उपनिवेशों में फैल गया। और अब सैन्य साम्राज्य के अवसान के बाद वह सांस्कृतिक साम्राज्य उत्तरोत्तर गहरा होता जाता है। उन्नीसवीं शती में अँग्रेज़ी साम्राज्य ने संसार का सुधार करने के लिए 'गोरे आदमी का दायित्व' जो आप से आप सँभाल लिया था, वह दायित्व बीसवीं शती में अँग्रेज से अमेरिका ने ले लिया, अब इंग्लैंड को भी उस में समेटते हुए। इस नये दायित्व को नाम उस ने दिया 'नयी विश्व व्यवस्था'। सईद अपनी बार-बार स्वयं बलपूर्वक घोषित अरब अस्मिता के बावजूद इस व्यवस्था के ही पुरजे बने हुए हैं। यह विचित्र विडंबना है कि उपनिवेशों के अधिकतर अँग्रेज़ी पढ़े लोगों ने एक ओर साम्राज्यवाद की लड़ाई अगुवा होकर जीती तो दूसरी ओर सांस्कृतिक दासता को अनजान में और गहरा कर दिया।

राष्ट्रीय अस्मिता का केन्द्रीय तत्त्व संस्कृति है, जिस का बड़ा मार्मिक विश्लेषण मध्यकालीन परिवेश में घटना क्रम को रख कर निराला ने अपने काव्य 'तुलसीदास' में किया है। फिर संस्कृति का सब से सूक्ष्म रूप कविता है जहाँ उस (संस्कृति) के वैचारिक और भावात्मक दोनों पक्ष घुले मिले रहते हैं। यों संस्कृति के व्यापक प्रदूषण और अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के नाजायज़ दबाव से निपटने के लिए कविता एक साथ विनम्र और अप्रत्यक्ष माध्यम हो सकता है। साम्राज्यवाद से लड़ाई, विशेषतः भारत में, जैसे अहिंसा और सविनय अवज्ञा के साथ लड़ी गई थी, वैसे ही सांस्कृतिक आक्रमण का प्रतिरोध कविता की सहायता से संभव होगा, जैसा कि निराला के 'तुलसीदास' में चित्रित हुआ है।

'तुलसीदास' (१९३८) काव्य में निराला मध्यकालीन इस्लाम के सैन्य आक्रमण से अधिक उस के सांस्कृतिक आक्रमण को लेकर चिंतित हैं। सैन्य आक्रमण की तुलना कवि ने सघन बादलों की तीव्र वर्षा से की है, जब कि सांस्कृतिक प्रभुत्व जमाने की कोशिश शरद ऋतु की मृदुल चाँदनी से—और वर्षा के बाद शरद ऋतु आती है। देश का 'सांस्कृतिक

सूर्य' दोनों स्थितियों में 'अस्तमित' है। पहले छंद में ही कवि ने इस स्थिति का निर्भ्रांत अंकन कर दिया है—

भारत के नभ का प्रभापूर्य/ शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मंडल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण/ शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल।

एडवर्ड सईद अब साम्राज्य और शताब्दी के अवसान विंदु पर जिस सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का विस्तार में विश्लेषण कर रहे हैं हिंदी का कवि साम्राज्य के उत्कर्ष विंदु पर १९३८ में ही उस का सौ छंदों के काव्य 'तुलसीदास' में मार्मिक और तीखा अंकन कर रहा है ऊपर उद्धृत पहले छंद में जहाँ समूचे परिदृश्य को एकबारगी उकेर दिया गया है। इस सांस्कृतिक प्रभुत्व के प्रतिरोध के लिए कवि तुलसी का उदय निराला ने दिखाया है। यहाँ लंबे और सटीक रूपक के बीच कहीं एक गूँज यह है कि समानांतर परिस्थितियों में पाश्चात्य सांस्कृतिक आक्रमण के प्रतिरोध में वैसी ही भूमिका आधुनिक कवि निराला की है। सांस्कृतिक प्रतिरोध, और उस के बीच सांस्कृतिक पुनर्जागरण में कविता की केन्द्रीय स्थिति का यह चित्रण अपने में बेजोड़ है। इस प्रसंग में एक ही समय के आसपास प्रकाशित काव्य प्रसाद का 'कामायनी' (१९३७), और उनके सहयोगी कवि निराला का 'तुलसीदास' (१९३८) बहुत-कुछ एक-दूसरे की पूरक वस्तु को लेकर रचे गए हैं। 'कामायनी' में देव संस्कृति से भिन्न और विशिष्ट समूची मानवीय संस्कृति के उदय और विकास का आख्यान है, और जहाँ वह संस्कृति अब प्रविधि युग में पहुँची है उस की समस्याओं का निदान। साथ ही समकालीन भारतीय संस्कृति के प्रवृत्तिमूलक रूप की एक प्रस्तावना दी हुई है। 'तुलसीदास' अधिक निश्चित देश-काल में हिंदी-क्षेत्र की सांस्कृतिक उदासी का अंकन करके उस के पुनर्ज़ागरण के लिए कवि तुलसी के रचनात्मक प्रयत्नों को रेखांकित करता है। साम्राज्यवाद के पसारे में संस्कृति पर प्रभुत्व जमाने की कोशिश अपने-अपने ढंग से दोनों कवि विफल करते हैं। यहाँ कविता जिस सांस्कृतिक प्रदूषण से लड़ रही है उस की प्रकृति अत्यंत सूक्ष्म, पर बुनियादी है। इस तुलना में शती के अंतिम दशक से प्रबल

हुआ संस्कृति का वर्तमान प्रदूषण स्थूल और व्यापक है, जिस का प्रतिरोध कविता को नये रूप में करना है। 'कामायनी' दिखाती है कि कैसे 'सुख, केवल सुख' की विलासी देव-संस्कृति के प्रदूषण को नयी विकसित मानवीय संस्कृति ने 'रचनामूलक सृष्टि यज्ञ' के रूप में स्वच्छ किया था। अब वही मानवीय संस्कृति अपने प्रदूषण को कैसे दूर करती है, यह समकालीन कविता के चित्रण के लिए योग्य वस्तु और चुनौती दोनों एक साथ है। आधुनिक संदर्भ में नयी बाज़ार सभ्यता और परंपरागत राष्ट्रीय संस्कृति के बीच किसी एक को चुना जाए, एक विकल्प यह हो सकता है। एक दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि दोनों तरफ़ के अतिवाद का शमन करके उनके बीच ताल-मेल रखा जाए। दूसरे विकल्प की स्थिति में वैज्ञानिक सभ्यता और संस्कृति का प्रदूषण कविता स्वच्छ कर सकती है। एशिया के आकार में छोटे से देश जापान ने बहुत कुछ ऐसी ही जीवन-शैली अपनाई है 'सुपर कॉलाइडर' और 'हाइकू' को मिलाकर। भारत जहाँ विरुद्धों के सामंजस्य की लंबी परंपरा रही है, यदि फिर से संकल्प करे तो इस शैली को और परिष्कृत कर सकता है।

संस्कृति और सभ्यता के बीच एक महत्त्वपूर्ण कारक है राजनीति। पहले कहा जा चुका है कि तात्कालिकता और प्रदूषण का सीधा रिश्ता है। राजनीति की प्रकृति निपट तात्कालिक है जब कि संस्कृति की रचनात्मक और समयसाध्य। तब राजनीति प्रदूषण का स्रोत बनती है और संस्कृति, विशेषतः कविता के माध्यम से उस का निवारण करती है। राजनीति में मनुष्य से मनुष्य टकराता है, सभ्यता में साथ रहना सीखता है, संस्कृति जिसके लिए मूल्य बनाती और प्रेरित करती है।

संस्कृति, सभ्यता और राजनीति की अंतर-क्रिया में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य यह है कि किसी राष्ट्र की अपनी कविता जहाँ बाहरी सांस्कृतिक प्रभुत्व-प्रक्रिया का प्रतिरोध करती है, वहीं दूसरे पक्ष में, उस बाहरी संस्कृति से जुड़ी कविता उस आक्रामक जाति के प्रति शासित-उपनिवेशित मानस का अनुकूलन भी करती है। किसी जाति के रचनाकारों का यह किसी क़दर अनुचित, यद्यपि अयाचित और अदत्त, लाभ उस जाति के शासकों को अनायास मिल जाता है। फ़िरदौसी और हाफ़िज के काव्य से लेकर मीर, ग़ालिब, ज़फ़र का काव्य भारत में

इस्लामी शासन को क्रमशः स्वीकार्य बनाने में सूक्ष्म स्तर पर सहयोग करता है, और उसी तरह मिल्टन, शेक्सपियर से लेकर टी०एस० एलियट तक का साहित्य अँग्रेज़ी प्रभुत्व को बनाए रखने में उपकारक हुआ है। यहाँ यह भाव कदापि नहीं कि इन कवियों की या उन की कविता की रचनात्मक स्तर पर साम्राज्यवादी शक्तियों को मज़बूत बनाने में कोई सजग भूमिका रही है। फ़िरदौसी, ग़ालिब, शेक्सपियर, एलियट का काव्य वैसा ही मानवतावादी है जैसा कि भारत के देसी संदर्भ में कालिदास, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ या कि निराला का। मूल भाव यह है कि किसी जाति का साहित्य उस जाति के प्रभुत्व के परिवेश में पढ़े जाने पर उस जाति के अन्यथा आक्रमण और अत्याचार को सहनीय बना देता है, बल्कि उस अत्याचार की तुलना में वह साहित्य और अधिक मानववादी रूप में उभर उठता है। यही कारण है कि मुग़ल वंश, उस के अंतिम बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र तक, या कि अँग्रेज क्लाइव के उत्तराधिकारियों का शासन कब का ख़त्म हो गया, पर शायर ज़फ़र, शेक्सपियर और एलियट भारत के सांस्कृतिक मानस पर आज भी राज करते हैं। और यह तो अपने आप में इतिहास के अध्ययन का एक स्वतंत्र, महत्त्वपूर्ण और रोचक विषय है कि कैसे एक साम्राज्य का अंतिम बादशाह 'ज़फ़र' अगले ब्रितानी साम्राज्यवादी आक्रमण के विरोध का प्रतीक नेता बनता है। फिर आगामी इतिहासकार संभव है कि भारत में ब्रितानी शासन के अंतिम विदेशी वायसराय लॉर्ड माउंटबैटन के भारत प्रेम को कुछ मिलती-जुलती भूमिका में देखें। साम्राज्यों के अवसान का अध्ययन राजनैतिक इतिहासकारों से कुछ अधिक ही सांस्कृतिक इतिहासकारों के लिए उपयुक्त और उपयोगी सामग्री देता है। यहाँ स्मरणीय यह भी है कि शासित जन द्वारा शासक जाति के रचनाकारों का अध्ययन जहाँ उस जाति के सैन्य, सामाजिक और आर्थिक अत्याचारों को कुछ मुलायम कर देता है, वहीं उन दोनों जातियों के बीच स्थायी विद्वेष नहीं पनपने देता। साम्राज्य और साहित्य की अंतरक्रिया को लेकर इंग्लैंड के एक राजनेता के बारे में प्रसिद्ध है कि उसने अपने साम्राज्य के चरम उत्कर्ष के दिनों में कहा था कि यदि चुनाव इस में करना हो कि ब्रिटेन अपना साम्राज्य गँवा दे या कि शेक्सपियर तो मेरी

निश्चित राय होगी कि साम्राज्य छोड़ना श्रेयस्कर है शेक्सपियर नहीं; साम्राज्य कभी समाप्त हो सकता है, शेक्सपियर अक्षय है। कहना होगा कि उस राजनेता ने अपनी सूझ-बूझ में जाने-अनजाने ऐसी भविष्यवाणी की जो दोनों रूपों में चरितार्थ हो रही है। ब्रिटिश साम्राज्य विलीन हो गया, शेक्सपियर का शासन चल रहा है।

सांस्कृतिक दासता के इस सूक्ष्म रूप से लड़ाई अब सैन्य शक्ति के द्वारा नहीं लड़ी जा सकती। शेक्सपियर को भारतीय मानस से अपदस्थ भी नहीं करना, उस के समक्ष कालिदास, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ, सुब्रह्मण्य भारती, नज़ीर और निराला को स्थान देना है। राष्ट्रीयता का अब राजनैतिक नहीं सांस्कृतिक रूप भारतीय व्यक्तित्व की निष्ठा के लिए वांछनीय और प्रभावी होगा। राष्ट्रीय भावबोध के अंतर्गत उग्र राजनैतिक संघर्ष को सांस्कृतिक संपर्क थिरा सकता है। कविता से ही कविता पर विजय हो सकती है।

इस प्रसंग में संस्कृति बड़े सूक्ष्म और अपेक्षया अमूर्त्त रूप में प्रभावकारी होती है, धर्म और भाषा से कुछ अधिक ही। फ़ारसी-उर्दू कविता जब मध्यकालीन इस्लाम के शासन को भारत में सुसंस्कृत और स्वीकार्य बनाती है तो ध्यान रखना होगा कि उसकी एक भाषा-उर्दू–भारतीय अधिक है, फ़ारसी कम, और उस में लिखने वाले मुसलमान और हिंदू दोनों हैं। पर अपनी सांस्कृतिक वफ़ादारी की वजह से यह कविता इस्लाम और उस के अनुयायी शासकों से जुड़ जाती है। दूसरी ओर सलमान रशदी जैसे लेखक लिखते भी पूर्व शासकों की भाषा अँग्रेज़ी में हैं, और उन की सांस्कृतिक वफ़ादारी भी उन्हीं के साथ है। यों सांस्कृतिक वफ़ादारी वह मुख्य प्रक्रिया है जिस से होकर सर्जनात्मक लेखक विदेशी साम्राज्यवादी हितों से जाने-अनजाने जुड़ता और दरबार का अंग बनता है, भले वह मध्यकाल में देसी भाषा उर्दू में लिख रहा हो या कि अब विदेशी भाषा अँग्रेज़ी में।

देसी भाषा उर्दू की रचना अब धीरे-धीरे फ़ारसी संदर्भों से उपराम हो राष्ट्रीय भाव-बोध के निकटतर आ रही है, जब कि अँग्रेज़ी में लिखने वाले राष्ट्रीय निष्ठा से तटस्थ होकर ऐसी अंतर्राष्ट्रीयता की ओर खिंचे जा रहे हैं जो कि पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का एक दूसरा नाम है।

सांस्कृतिक सन्नद्धता राष्ट्रीय जीवन में कितना प्रबल होता है इसका एक रोचक परिणाम यह है कि पंजाबी या सिंधी के बजाय उर्दू पाकिस्तान की राजभाषा घोषित हुई जहाँ वह बोली नहीं जाती थी।

यों संस्कृति, सभ्यता और राजनीति के अपने द्वन्द्व भी अपनी तरह के प्रदूषण छोड़ते हुए कई स्तरों पर चलते हैं। जल-वायु और पृथ्वी के प्रदूषण से अधिक भयावह अपने को उत्तर-आधुनिक कहने वाले इस युग में मानव का मानव द्वारा प्रदूषण है, प्रविधि और संचार-साधनों के सहारे फैलता फलता-फूलता अश्लील जिस का एक बड़ा उपकरण है। तब मनुष्य को मनुष्य की रगड़ से बचाने के लिए कविता और कलाओं की अपेक्षा है। बड़वाग्नि और दावाग्नि को मानव शांत कर लेता है, मानवाग्नि को शांत करने का दायित्व अधिकतर कविता का रहा है, और रहेगा।

कविता प्रकृति का पक्ष लेती है, इस का यह अर्थ नहीं कि वह यंत्र का बहिष्कार चाहती है। जैसा आरंभ में संकेत किया गया, मनुष्य, प्रकृति और यंत्र का सानुपातिक संबंध कविता के लिए सदैव से इष्ट रहा है। इस प्रक्रिया में प्रदूषण की संभावना अपने आप कम होगी। विज्ञान और कविता के अंतर संबंध पर विचार करते हुए प्रकृति प्रेमी आलोचक रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, संदर्भ सूरदास के प्रसंग में प्रकृति-काव्य और नये ढंग के अप्रस्तुत-विधान का है: ''हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं उन के भीतर के नाना रमणीय और अद्‌भुत रूपों और व्यापारों का—जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नहीं है—काव्य में उपयोग करके उस के क्षेत्र का विस्तार न किया जाय। उनका प्रयोग किया जाय, कवि की प्रतिभा द्वारा वे गोचर रूप में सामने लाए जाँय, पर दूसरे प्रकार की रचनाओं में लाए जाएँ; केवल अंग, आभूषण आदि की उपमा के लिए नहीं। ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते बिगड़ते, रंग बिरंग के पिंडों, अपार ज्योति समूहों आदि का पता लगा है जिन के सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई विश्वव्यापिनी ज्ञानदृष्टिवाला कवि यदि विश्व की कोई गंभीर समस्या लेकर उसे काव्य रूप में रखना चाहता है तो वह इन

सबको हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।" ('सूरदास' पृ० १४१) स्पष्ट ही कविता की समस्या विज्ञान नहीं प्रविधि है। हर तरह के प्रदूषण को रोकने के लिए नियंत्रण प्रविधि पर ही रहना होगा। यंत्र की ढिठाई वहाँ समझ में आती है जब पहले वह मानवीय वृत्तियों को तरह-तरह से उत्तेजित करता है, और फिर मन को शांत करने वाली प्रकृति की विविध ध्वनियों के रिकॉर्ड और कैसेट ('सूदिंग नेचर साउंड्स' कई भागों में जैसे 'ग्रीष्म संध्या' या 'हल्की सागर लहरियाँ') तैयार कर के अमरीकी बाज़ार में बिक्री के लिए सुलभ करता है। पहले यों मनुष्य को अकेला कर के उसे दबोचना, फिर अपनी तरफ़ से सहायता का हाथ बढ़ाना, यह यंत्र का खिलवाड़ हो गया है।

सांस्कृतिक प्रदूषण के विवेचन के समय कई बार देश की संस्कृति की अपनी सड़ाँध की बात उठाई जाती है, कुछ इस व्यंजना के साथ जैसे एक को बढ़ा-चढ़ा कर कहने में दूसरी की अनदेखी की जा रही है। यहाँ स्पष्ट करना होगा कि देश में सांस्कृतिक सड़ाँध की सफ़ाई तो पिछले सौ वर्षों से अधिक समय से चलती रही राममोहन राय से लेकर मोहनदास करमचंद गांधी तक। बीच में तिलक, विवेकानंद, दयानंद, विद्यासागर और ज्योति बा फुले जैसे अनेक मनीषियों ने इस अभियान में बड़े मनोयोग से हाथ बँटाया। कहना होगा कि आज़ादी की लड़ाई के लिए बड़ी उपयुक्त भावभूमि वहाँ तैयार हुई। पर आज़ादी और गांधी के बाद से परिदृश्य फिर बदलने लगा, जिसे सांस्कृतिक इतिहास के विवेचन में 'अवरुद्ध पुनर्जागरण' कहा गया। पुनर्जागरण की बुनियादी मान्यता थी कि मनुष्य का विकास उस की समग्रता में होना है, किसी एक खास दिशा में सीमित नहीं रहना। आज़ादी के बाद से सांस्कृतिक और रचनात्मक कार्यक्रमों की गति जैसे एकबारगी रुक गई, और सारा ध्यान राजनीति पर केन्द्रित हो गया, जिस की सड़ाँध की तो फिर अलग गाथा है। बहरहाल इस नयी परिस्थिति से जूझने की जब तक कोई संतोषजनक रण-नीति तैयार होती तब तक यह बाहर का सांस्कृतिक प्रदूषण तेज़ी से फैलने लगा है। इस प्रदूषण के अनेक खतरों में से एक यह भी है कि अंदरूनी सड़ाँध और बाहर के प्रदूषण का अंतर विभ्रमित होने लगता है, और एक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता जैसी स्थिति बनती है कि

स्वच्छता का अभियान अब शुरू हो तो कहाँ से? ज़ाहिर है कि आधुनिककालीन कविता इस की कोई व्यवस्थित कार्य-योजना न तैयार कर सकती है, और न दे सकती है। वह 'कामायनी' और 'तुलसीदास' की तरह कुछ बुनियादी जीवन-मूल्यों की अनुभूति दे सकती है जहाँ से रचनात्मक तैयारी आरंभ हो। निराला ने अपने काव्य में जिस तुलसीदास का रचना-मानस बनते हुए चित्रित किया है, उस तुलसी ने अपने वृहदाकार काव्य रामचरितमानस में इस्लाम के सैन्य या कि सांस्कृतिक आक्रमण का कहीं कोई संदर्भ तक नहीं दिया है। कवि चाहता तो बड़ी आसानी से रूपक शैली में रावण के चरित्र में दिल्ली के बादशाह को प्रक्षिप्त कर सकता था। पर उस का प्रतिरोध नकारात्मक न होकर सकारात्मक था। उस की दृष्टि इस बात पर थी कि जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति में ऐसी आंतरिक क्षमता विकसित की जा सके कि वह बाहर के हमले को अच्छी तरह सँभाल सके, उस से पराभूत न हो। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के प्रसंग में कविता के प्रतिरोध की यही प्रक्रिया काम्य होगी।

इधर कविता या कि साहित्य में स्वयं प्रदूषण के तत्त्व प्रवेश कर गए हैं। कविता और नकविता के बीच अंतर सभी जगह मद्धिम हुआ है। गंगा-यमुना का प्रदूषण दूर करने के लिए प्राधिकरण बने तो ठीक है, पर सरस्वती को तो अपना प्रदूषण स्वयं दूर कर सकना चाहिए। यदि वह अपना प्रदूषण दूर नहीं कर सकती तो बाहर का प्रदूषण कैसे दूर कर पाएगी! और वैसी स्थिति में सरस्वती की सार्थकता और कविता की संगति ही क्या रहेगी? संस्कृति का प्रदूषण दूर करना कविता का दायित्व है और कविता की रक्षा करना संस्कृति का। यह अंतरक्रिया सांस्कृतिक स्तर का ऋत है और कविता का पक्ष, जिसे आधुनिक मनुष्य को समझना और स्वीकार करना है।

●